शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : १०

मुनि दर्शन की भावना

★

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपकारी... ॥टेक॥
साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी॥ वे मुनि०
कंचन-काच बराबर जिनके ज्यों रिपु त्यों हितकारी,
महल मसान, मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी॥ वे मुनि०
सम्यक्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक पर जारी,
शोधत जीव-सुवर्ण सदा जे, काय कारिमा टारी॥ वे मुनि०
जोरि जुगल कर 'भूधर' विनवे, तिन पद धोक हमारी,
भाग उदय दरसन जब पाऊं, ता दिन की बलिहारी॥ वे मुनि०

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२५०]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय सूची

	विषय
१.	धर्म के जिज्ञासु के धर्मात्मा के बहुमान का भाव कैसा होता है ?
२.	साधकपना प्रगट करने के लिये क्या करें ?
३.	स्वयंभू
४.	अरिहंत भगवंतों का संदेश
५.	केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान-ज्योति
६.	धन्य वह मुनिदशा ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं
७.	मुमुक्षु का मंगल अभिप्राय
८.	श्री कानजी स्वामी का कुन्दकुन्द अंजलि पर अध्यात्म संदेश
९.	प्रभु दर्शन का आह्लाद
१०.	आनंद की जाननी वैराग्य भावना
११.	आत्मा की उत्कंठा
१२.	चलो दादा के दरबार (सौ राजकुमारों की कहानी)
१३.	अध्यात्म पद
१४.	जो आत्मा को शुद्ध जाने वह शुद्ध आत्मा ही प्राप्त करे
१५.	पूज्य कानजी स्वामी के उपदेश रत्नाकर में से चुने हुए मोती
१६.	अमृत का अनुभव
१७.	समाचार संग्रह

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : १०

धर्म के जिज्ञासु को धर्मात्मा के बहुमान का भाव कैसा होता है ?

धर्मात्मा संत-मुनि या गृहस्थदशा में विद्यमान धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि के प्रति धर्म के प्रेमी जीव को विनय बहुमान का भाव कैसा होात है, और उन धर्मात्माओं के अंतर में चैतन्य की कैसी प्रतीति होती है—उसके लक्षपूर्वक दानादि का कैसा उल्लासभाव आता है, उसका सुंदर वर्णन एक बार पूज्य गुरुदेव ने किया था। आत्मा का पूर्णानंदस्वरूप समझकर वह जिसे प्राप्त करना है, ऐसे जिज्ञासु को निमित्तरूप से धर्म के दाता—आनंद के दाता ऐसे धर्मात्मा के प्रति भक्तिभाव आता है; धर्मात्मा को देखते ही उसके रोम-रोम में प्रमोद जागृत होता है कि अहा, आत्मा का अनुभव करनेवाले इन धर्मात्माओं के लिये मैं अपने तन-मन-धन अर्पण करूँ, वह सफल है। संसार के भोगोपभोगों में लक्ष्मी का व्यय हो, वह तो पापबंध का कारण है और धर्मात्मा देव-गुरु-धर्म के लिये लक्ष्मी आदि अर्पण करने की भावना में तो अपने धर्म-प्रेम की पुष्टि होती है।

चिदानंदतत्त्व सर्व राग से रहित है, उसे जो साधना चाहता है, उसको राग की मंदता तो सहज होती ही है। धर्मात्मा जीव चिदानंदतत्त्व को साध रहे हैं; उनकी पहिचान भी जगत को दुर्लभ है। जैसे कोई कुशल पुरुष नाटक में स्त्री का वेष धारण करके ऐसी चेष्टा करता है कि—देखनेवाले उसे सचमुच स्त्री समझकर विकारी हो जाते हैं... परंतु वहाँ नाटक करनेवाला स्वयं तो निःशंक समझता है कि मैं कोई स्त्री नहीं हूँ, मैं तो पुरुष हूँ; स्त्री के कपड़े पहिन लेने से मैं कहीं पुरुष मिटकर स्त्री नहीं हो गया; और दर्शकों में भी जो जानकार हों, वे जान लेते हैं कि यह जो स्त्रीवेष में

दिखायी दे रहा है, वह कोई स्त्री नहीं परंतु पुरुष ही है। उसीप्रकार इस संसार के नाटक में ज्ञानी-धर्मात्मा कदाचित् स्त्री के शरीर में विद्यमान हों, वहाँ बाह्य दृष्टि से देखनेवाले मूढ़ जीव उनके आत्मा को तो जानते नहीं हैं और यह धर्मी जीव ऐसा बोलते हैं तथा उन्होंने ऐसा राग किया—ऐसा वे देखते हैं और अपने में भी राग का तथा देहादि की क्रिया का कर्तृत्व मानकर वे अज्ञानी वर्तते हैं; परंतु वे ज्ञानी-धर्मात्मा स्वयं तो निःशंक जानते हैं कि हम स्त्री नहीं हैं, हम तो चिदानंदस्वरूप आत्मा हैं... शरीर की क्रिया हमारी नहीं है तथा राग की क्रिया भी हम नहीं करते; हमारी क्रिया तो ज्ञानमय है। जो जानकार हो, वह तो धर्मात्मा को ऐसे स्वरूप में जान लेता है।

ऐसे धर्मात्मा को जानने पर उनके प्रति दान, भक्ति तथा अर्पणता का भाव आये बिना नहीं रहता। परंतु धर्मात्मा का मिलना और उनकी पहिचान करना इस जगत में अति दुर्लभ है।

अरे, इस संसार में मनुष्यभव प्राप्त होना भी महादुर्लभ है, फिर मुनिदशा की तो बात ही कहाँ रही!! अरे, सम्यग्दर्शन भी महादुर्लभ वस्तु है। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ परमात्मा के घर में प्रवेश किया। हमारे स्वरूप में जगत का प्रवेश नहीं है और जगत के पदार्थों में हम नहीं हैं—ऐसी प्रतीतिपूर्वक आत्मा को साधते हुए बीच में धर्मात्मा को भी मुनि आदि के प्रति भक्ति का शुभभाव तथा आहारदानादि का भाव आता है।

चरमशरीरी भरत चक्रवर्ती भोजन करने से पूर्व चिंतवन करते हैं कि—अहा! कोई मुनिराज इस समय मेरे आँगन में पधारें तो उन्हें आहारदान देकर फिर मैं भोजन करूँ। ऐसी भावना सहित नंगे पाँव महल के बाहर द्वार पर खड़े-खड़े मुनियों के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इतने में दो मुनिराज आकाश में विहार करते-करते अयोध्यानगरी में उतरते हैं। उन्हें देखकर भरत चक्रवर्ती का रोम-रोम हर्ष से उल्लसित हो उठता है। 'पधारिये मुनिराज पधारिये!'—ऐसा कहकर परम विनय से उनका बहुमान करके, विधिपूर्वक पड़गाहन करके, नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं। अहा, उस काल की उनकी भक्ति!!—उसका शास्त्र में बहुत वर्णन है। आज धन्य अवतार! धन्य घड़ी! कल्पवृक्ष मेरे आँगन में आया... साक्षात् मोक्षमार्ग आज हमारे घर उतर आया।

यह तो मुनियों का दृष्टांत दिया। उसीप्रकार सम्यक्त्वी गृहस्थ के प्रति भी धर्मात्मा या धर्म के जिज्ञासु को वात्सल्य एवं बहुमान आता है। सत्पंथ पर चलनेवाले जीवों को संत-धर्मात्मा के प्रति, देव-गुरु-धर्म की प्रभावना के हेतु, ज्ञान की प्रभावना के हेतु खूब-खूब उत्साह आता है। जैसे

कारीगर ज्यों-ज्यों मकान बनाता है, त्यों-त्यों वह ऊपर चढ़ता जाता है; उसीप्रकार धर्मी जीव धर्मात्माओं का उत्कृष्ट बहुमान करते-करते स्वयं धर्म में आगे बढ़ता जाता है। धर्मात्मा को भक्ति सहित दिया गया एक कौर हजार गुना फलता है—इसका क्या अर्थ ?—कि उसमें धर्मात्मा के प्रति भक्ति का अपना जो भाव है, उससे ऐसा उच्च पुण्य बँधता है कि उसके फल में स्वर्गादि का वैभव प्राप्त होगा। परंतु उस वैभव का बहुमान नहीं है, बहुमान तो धर्म का और धर्म को साधनेवाले धर्मात्मा का ही है। धर्मात्मा तो अल्पकाल में मोक्ष जायेंगे और उन्हें पहिचानकर उनका बहुमान करनेवाले भी उनके साथ-साथ अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

भाई, ऐसा समझकर वह करने योग्य है। 'अभी नहीं, फिर करेंगे'—इसप्रकार उसमें अवधि बढ़ाना ठीक नहीं है। जिसे सच्ची रुचि हो, वह अवधि नहीं माँगता। 'इस समय आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता'—ऐसा जो कहता है, उसे धर्म की सच्ची रुचि ही नहीं है; इसलिये आत्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये और आत्मा को बतलानेवाले धर्मात्माओं को पहिचानकर बहुमानादि करना चाहिये।—ऐसा उपदेश है।

साधकपना प्रगट करने के लिये क्या करें ?

अहा! जिसे साधकपना प्रगट करना है, उसे वह कैसे प्रगट हो उसकी बात है। मोक्ष को साधने के लिये सूत्र की तथा संतों की आज्ञा तो ऐसी है कि तू अपने स्वद्रव्य का आश्रय करके उसी में विहर! तू अपने आत्मा को स्वद्रव्य में युक्त कर... तो तू मोक्षमार्ग में आ गया—ऐसी सूत्र की तथा संतों की सम्मति है।

[समयसार, गाथा ४१०-४११ के प्रवचन से]

आत्मा का वीतरागी ज्ञानस्वभाव है। उस वीतरागी स्वभाव की निर्विकल्प वीतरागी श्रद्धा, उसका वीतरागी ज्ञान तथा उसमें वीतरागी लीनता—ऐसे रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है।

ऐसे मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये जिसे साधकपना प्रगट करना हो तथा मोक्ष को साधना हो, उसे आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ की उपासना करनी चाहिये। द्रव्यलिंग तो शरीराश्रित होने से परद्रव्य है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है।

द्रव्यलिंग को शरीराश्रित कहा, उसमें व्रत-महाव्रत के शुभविकल्प भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि वे भी परद्रव्याश्रित ही हैं, इसलिये वे मोक्ष का कारण नहीं हैं।

मोक्ष का कारण तो स्वद्रव्याश्रित ही होता है। स्वद्रव्य अर्थात् आत्मस्वभाव के आश्रित ऐसे जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही मोक्षमार्ग है—ऐसा कहते हैं।

'कौन कहते हैं ?'—कि भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं। सर्व जिनेन्द्र भगवंतों ने शुद्धज्ञान के आश्रय से (अर्थात् शुद्ध आत्मा के आश्रय से) ही मोक्षमार्ग की आराधना की है और उन जिनभगवंतों ने अन्य मुमुक्षु श्रोताओं को भी उसी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है।

गिरनार आदि सिद्धिधामों की यात्रा का भाव कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान संतों को भी आया था, और वे गिरनारजी तीर्थ की यात्रा के लिये पधारे थे—ऐसा बहुमान का विकल्प धर्मात्मा जीवों को आता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी दक्षिण भारत के पर्वतों को देखकर बहुमानपूर्वक कहते हैं कि—अहा, वहाँ के नग्न ऊँचे अडोलवृत्ति से खड़े हुए पर्वतों को देखकर स्वामी कार्तिकेय आदि मुनियों की अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति का स्मरण होता था। उन स्वामी कार्तिकेयादि को नमस्कार हो!

देखो न, बाहुबलि भगवान कैसे अडोल खड़े हैं! मानों मोक्ष को कैसे साधा, वह दरशा रहे हों!! कैसा अद्भुत दृश्य था।

—इसप्रकार तीर्थधाम के प्रति बहुमान का भाव आता है।

रत्नत्रयरूप से परिणमित जीवा को भी 'तीर्थ' कहा जाता है, क्योंकि जिससे तरा जाये, वह तीर्थ है; रत्नत्रयरूपी नौका द्वारा वह संसार को तरता है, इसलिये वह तीर्थ है। **अनुभव की प्रीतिवाले मुमुक्षु जीव को ऐसे परमात्मा या धर्मात्मा के प्रति परमप्रीति एवं बहुमान आता है।**

परंतु उस समय उस धर्मात्मा को अंतर में प्रतीति रहती है कि यह भाव परद्रव्याश्रित है, वह मेरे मोक्ष का साधन वास्तव में नहीं है; जितना भाव मेरे स्वद्रव्य का अवलंबन करे, वही मोक्ष का साधन है।

यहाँ किसी एक जीव की बात नहीं है, यह तो महान सिद्धांत है, इसलिये सर्व जीवों के लिये त्रैकालिक अबाधित नियम है। किसी भी क्षेत्र में जब जिस जीव को मोक्ष साधना हो, वह इस नियम के अनुसार ही मोक्ष को साध सकता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—ऐसा मोक्षशास्त्र का प्रथम सूत्र है और उसके बीज इस समयसार में भरे हुए हैं।

सर्व कर्मरहित पूर्ण शुद्ध आत्मपरिणति, सो मोक्ष है; तो उस मोक्ष का कारण भी उसी प्रकार का होना चाहिये, अर्थात् मोक्ष के कारणरूप परिणाम भी कर्मरहित, शुद्ध होना चाहिये। जिस परिणाम से कर्मबंध हो, वह परिणाम मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा के आश्रय से होनेवाले वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम, वही मोक्ष का साधन है—यह नियम है।

इसलिये हे भव्य! अपने आत्मा को तू ऐसे मोक्षमार्ग में लगा! और अन्य भावों का ममत्व छोड़ दे! स्वद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग, उसी में अपने आत्मा को लगा —ऐसी सूत्र की अनुमति है।

अहा! जिसे साधकपना प्रगट करना हो, उसे वह कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात है। मोक्ष को साधने के लिये सूत्र की और संतों की आज्ञा तो ऐसी है कि—तू अपने स्वद्रव्य का आश्रय करके उसी में विहर! तू अपने आत्मा को स्वद्रव्य में लगा... तो तू मोक्षमार्ग में आया है—ऐसी सूत्र की तथा संतों की सम्मति है। ['सुवर्ण संदेश' से साभार]

स्वयंभू

केवलज्ञान स्वतंत्र-निरपेक्ष, आत्माधीन, कर्मोपाधि विवर्जित स्वभावपर्याय है।

इस विषय में द्रव्यानुयोग तथा करणानुयोग के शास्त्रों में जो निरूपण आया है, उसका विचार करने में आता है। केवलज्ञान आत्मा के सत्यपुरुषार्थ से ही होता है, कर्मों की कृपा से नहीं। केवलज्ञान आत्मा का स्वतंत्र कार्य है, कर्म तो उस समय स्वयं विनष्ट हो जाता है।

[१]

इस विषय में प्रथम श्री तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, पुस्तक १, पृष्ठ ५२९ प्रकाशक श्री कुन्थुसागर ग्रंथमाला, पृष्ठ ५२९ में कहा है, वह उपयोगी होने से यहाँ दिया जाता है।

"यदि किसी कर्म का उदय, उपशमादि परम्परा से सहायक भी हो तो बुद्धिपूर्वक वा अबुद्धिपूर्वक होनेवाले पुरुषार्थ जन्य स्वरूपों में उसकी कोई गणना नहीं है। खांसना, डकार लेना, व्यायाम करना, स्वाध्याय क्रिया, तपश्चरण, ब्रह्मचर्य धारण, सिद्ध अवस्था आदि कार्य आत्मा के

स्वतंत्र कार्य हैं। सर्वत्र कर्म का पुंछल्ला लगाना उचित नहीं।'' इस कथन का तात्पर्य यह है कि—केवलज्ञानरूप कार्य आत्मा का स्वतंत्र कार्य है, इसलिये उसमें कर्म का पुंछल्ला लगाना उचित नहीं है। यह कथन खास उपयोगी है क्योंकि—श्री पंडित माणिकचंद्रजी कौंदेय न्यायाचार्य ने श्लोकवार्तिक की हिंदी टीका में कहा है।

[२]

श्री प्रवचनसार गाथा १५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—**निर्मोह आत्मसंवित्ति लक्षण शुद्धोपयोग नामक**—आगमभाषा में प्रथक्त्ववितर्कविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान द्वारा-प्रथम परिपूर्णतया मोह का क्षपण करके उसके बाद रागादि विकल्प उपाधिरहित स्वसंवित्तिलक्षण एकत्ववितर्कविचार नामक दूसरा शुक्लध्यान से क्षीणकषाय गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त काल ठहरकर उसके अंत समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वीर्यान्तराय नामक घातिकर्मों का युगपत् नाश करते हैं। और **जगत्त्रय कालत्रयवर्ती समस्त वस्तुगत अनंतधर्म-युगपत् प्रकाशक ज्ञान प्राप्त करते हैं।**'' अतः सिद्ध हुआ कि शुद्धोपयोग से केवलज्ञान होता है।

[३]

श्री धवल पुस्तक १३, सूत्र ८२ में निम्नप्रकार कहा है, पृष्ठ ३४५-३४६ ''इसमें **अपने प्रतिपक्षी घाति चतुष्टय का समूल नाश कर दिया है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। केवलज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है,** इस बात का ज्ञान कराने के लिये और उसके विषय का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं।

स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से युक्त भगवान सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥८२॥ (उसकी टीका) —**शंका**—ज्ञान की उत्पत्ति स्वयं कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कार्य और कारण का एक अधिकरण होने से इनमें कोई भेद नहीं है।'' नोंध—यहाँ स्पष्ट है कि कर्मों की कृपा से केवलज्ञान नहीं होता किंतु जीव के सत्य पुरुषार्थ से ही होता है।

[४]

श्री प्रवचनसार गाथा १६ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—''**आत्मा सर्वज्ञ स्वयमेव हुआ होने से, स्वयंभू है**—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।'' उसकी उत्थानिका में श्री अमृतचन्द्राचार्य

ने कहा है कि ''**अब शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धआत्मस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष (-स्वतंत्र) होने से अत्यंत आत्माधीन है, यह प्रगट करते हैं**'' यहाँ देखिये अन्य कारकों से अर्थात् कर्मों से निरपेक्ष (स्वतंत्र) है, ऐसा कहा है। उसकी टीका—''**शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट होने से जिसने शुद्ध** अनंत शक्तिवान चैतन्यस्वभाव को प्राप्त किया है, ऐसा यह आत्मा **उत्पत्ति अपेक्षा द्रव्यभाव भेद से भिन्न घातिकर्मों को दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होने से 'स्वयंभू' कहलाता है।**''

[५]

प्रवचनसार, गाथा १६ में **स्वयंभूपना** प्रसिद्ध करके गाथा १७ में **'स्वयंभू' के शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के अत्यंत अविनाशीपना बतलाते हैं।**

[६]

गाथा १९ में शुद्धोपयोग के प्रभाव से 'स्वयंभू' हो चुके पूर्वोक्त आत्मा के इन्द्रियों के बिना ज्ञान-आनन्द कैसे हो सकते हैं, उसका विचार किया है। उस गाथा की टीका में कहा है कि—**शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से जिसके घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं....**

निर्विकार शुद्धचैतन्य जिसका स्वभाव है, ऐसा आत्मा का अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्व-पर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इसप्रकार आत्मा का ज्ञान और आनंद स्वभाव ही है और स्वभाव पर से निरपेक्ष-अनपेक्ष है।

इसका सार यह है कि जीव अपने शुद्धात्मा का पूर्ण आश्रय लेकर केवलज्ञान प्रगट करता है, तब द्रव्यकर्म अपने कारण से दूर हो जाते हैं, उसे क्षय कहते हैं, ऐसा अविनाभावी संबंध है। परस्पर जीव और पुद्गल कर्ता है, ऐसा नहीं है किंतु जीव अपने पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता है, तब द्रव्यकर्म जीव के साथ रहते नहीं हैं। पर से निरपेक्ष होता है, ऐसा कहो कि आत्मा स्वतंत्रपने केवलज्ञान प्रगट करता है, यह दोनों अस्ति-नास्ति या विधि निषेधरूप अनेकांत सिद्धांत है।

[७]

श्री प्रवचनसार, गाथा २१ में कहा है कि ''अनादि-अनंत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञान उपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं।' [यहाँ भी कारण अपने आप है, ऐसा कहा।]

[८]

आत्मा का केवलज्ञान स्वयंभू है, ऐसा श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ३३ की संस्कृत टीका तथा श्री पूज्यपादस्वामी कृत सिद्धभक्ति श्लोक नं० ४ में कहा है। वह श्लोक निम्नप्रकार है—

आत्मन्येवात्मनासौक्षणमुपजनय-सत्स्वयंभू प्रवृत्तः ॥४॥

श्री समंतभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र के श्लोक नं० ४ में कहा है कि—हे भगवान! **आपने आत्म समाधिरूप अग्नि से अर्थात् शुक्लध्यान से निर्दय होकर कर्मों को भस्म कर दिया।** उसीप्रकार श्री योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश, गाथा १ तथा योगसार, दोहा नं० १ में कहा है। परमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा ११९ में कहा है कि कर्म को निर्मूल करके जीव परमात्मा होता है।

[९]

श्री समयसार, गाथा २ टीका में कहा है कि—'भेदज्ञान ज्योति केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली है' संस्कृत में कहा है कि:—

'अयं खलु यदासकल भावस्वभावभासन समर्थ विद्यासमुत्पादक विवेक ज्योतिः' विवेक ज्योति को हिन्दी टीका में भेदज्ञान ज्योति और सकल-भाव भासन को केवलज्ञान कहा है।

यहाँ भी विवेक ज्योति केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं, ऐसा कहा है। उसमें द्रव्यकर्म का कुछ भी हिस्सा है, ऐसा नहीं है क्योंकि द्रव्यकर्म का उसमें अत्यंताभाव है, पृथक्त्व ही है, एकत्व नहीं है। आत्मा के आश्रय से विवेक ज्योति उत्पन्न होती है और विशेष आश्रय से केवलज्ञान होता है।

[१०]

श्री पूज्यपादाचार्यकृत सिद्ध भक्ति प्रसिद्ध है, उसमें कहा है कि आत्मा अपने उपादान से केवलज्ञान और सिद्धपद को प्राप्त होते हैं। वह श्लोक नं० ७ निम्नप्रकार है—

आत्मोपादानं सिद्धं स्वयमतिशयवद्वित बाधा विशालं।
वृद्धिह्रासव्येपतं विषय विरहितं निःप्रति द्वन्द्वभावम्॥
अन्य द्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालं॥७॥

आचार्यकृत इस स्तुति से भी सिद्ध होता है कि आत्मा अपने सत्य पुरुषार्थरूप उपादान कारण से अर्थात् अपनी आत्मा के आश्रय से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। अन्य द्रव्यों से अनपेक्ष कहा है, इससे कर्म-आदि की अपेक्षा नहीं है, यह बात साबित होती है।

[११]

यह विषय तत्त्वार्थसूत्र तथा पंचास्तिकाय में आया है, वह निम्नप्रकार है ''मोह क्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम् ॥१ ॥'' (अध्याय १० सूत्रजी) 'क्षयात्' का अर्थ जीव के पुरुषार्थ से क्षय हुआ, ऐसा सर्वार्थसिद्धि वचनिका में निम्नप्रकार कहा है। (पृष्ठ ३६५-३६६) ''प्रथम तो चार घातियाकर्म का क्षय का अनुक्रम कहने के अर्थ वाक्य भेद करके निर्देश किया है। प्रथम मोह का क्षय करके अंतर्मुहूर्त क्षीणकषाय नाम पाया, ता पीछे युगपत् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय **इन तीननिका क्षय करि केवलज्ञानकूं प्राप्त होय है। ऐसे तिनका क्षयतैं केवलज्ञान की उत्पत्ति होय है। बहुरि हेतु है लक्षण जाका ऐसी पंचमी विभक्ति का निर्देश किया है।**'' पंचमी विभक्ति का दृष्टांत—मैं दिल्ली से आगरा आया। यहाँ दिल्ली को छोड़कर आया, ऐसा अर्थ है। इसप्रकार सूत्र में 'क्षयात्' पंचमी विभक्ति होने से ज्ञानावरण आदि को छोड़कर केवलज्ञान हुआ है, ऐसा समझना। इसप्रकार अर्थ करने से सब आगमाधार का मेल बैठ जाता है। परस्पर विरुद्ध कथन जैनागम में हो सकता नहीं है। अपेक्षा ज्ञान से सर्वत्र अर्थ करना चाहिये। ज्ञानावरणीय कर्म या कोई अन्य कर्म की आराधना, उपासना करने से दूर नहीं होता किंतु आगम कथित उपाय करना चाहिये। पृष्ठ ३६६ सर्वार्थसिद्धि वचनिका में कहा है कि:—

''तहाँ पूछे है, मोह का क्षय पहली कौन रीति है करे हैं? सो ही कहीये है—समस्त मोहनीयकर्मकुं मूल से नाशकरि क्षीण कषायपाणाकुं पायकरी उतार्या है मोहनीय कर्म का बोझ जामें, तिस बारहवाँ गुणस्थान का उपांत्य कहिये अंत समय बहुरि पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अंतराय इन चौदह प्रकृतिनि का क्षयकरि, ताके अनंतर ही ज्ञानदर्शन है, स्वभाव जाका, ऐसा केवलनामा आत्मा का पर्याय, अचिन्त्य है विभूति का विशेष जामें ऐसी अवस्थाकुं पावै है।''

नोट—यहाँ जीव का स्व-सन्मुख परिणामों की वृद्धि की बोलबाला आई। द्रव्यकर्म के सन्मुख परिणाम तो संसार है; इस कारण द्रव्यकर्म की जीव के प्रति कृपा हो, तब केवलज्ञान हो, ऐसी मान्यता झूठ ही है, अत: छोड़ देना चाहिये।

यह बात सूत्रजी में श्री उमास्वामी भगवान, अध्याय ९-२९ में कहते हैं वहाँ कहा है कि—'**ध्यान मोक्ष का कारण है, अन्य कोई नहीं**' यही सिद्धांत सर्वार्थसिद्धि टीका, तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका, सबमें एक ही प्रकार है। अत: सिद्ध हुआ कि केवलज्ञान आत्मा की स्वतंत्र, असहाय, स्वयंभू पर्याय है, उसमें कर्म का पुंछल्ला लगाना उचित नहीं है। यथार्थतया नय विभाग

के ज्ञान द्वारा यह सूत्र अन्य शास्त्रों के कथन की साथ मेल रखते हैं।

इसप्रकार सर्वत्र यह कहा है कि आत्मा के शुद्ध परिणाम प्रगट करो, कर्म के सामने मत देखो। वहाँ से अपनी दृष्टि हटाकर आत्मा के सन्मुख करो। सम्यक् पुरुषार्थ करने से ही केवलज्ञान प्राप्त होता है, अन्य प्रकार नहीं, ऐसा समझो। यह सब तीर्थंकरों की तथा उन भगवन्तों की दिव्यध्वनि की आज्ञा है, इसलिये हे आत्म हितार्थीजन! उसको मानो रे मानो, कर्म का पुंछल्ला छोड़ो रे छोड़ो।

[१२]

कर्म के संबंध में पंडित श्री जयचंदजी छाबड़ा श्री समयसार शास्त्र की प्रस्तावना में क्या कहते हैं, वह आप पढ़िये, वह निम्न प्रकार है—

यहाँ तीन प्रयोजन मन में विचार कै प्रारम्भ किया है। प्रथम तो अन्यमति वेदान्ती तथा सांख्यमती आत्मा को सर्वथा एकांत पक्ष से शुद्ध, नित्य, अभेदरूप ऐसे विशेषणों कर कहते हैं। और कहते हैं कि **जैनी कर्मवादी है, इनके आत्मा की कथनी नहीं है, आत्म ज्ञान के बिना वृथा कर्म का क्लेश करते हैं। आत्मा को बिना जाने मोक्ष नहीं हो सकती। जो कर्म में ही लीन हैं, उनके संसार के दुःख कैसे मिट सकता है ?**

सो लौकिकजन उनके मत के हैं, उनमें यह प्रसिद्ध कर रखिये है। वे जैनमत की स्याद्वाद कथनी को तो समझे ही नहीं हैं, परंतु प्रसिद्ध व्यवहार देख निषेध करता है। इनका निषेध (खंडन) **शुद्धनय की कथनी प्रगट न हो तो भोले जीव अन्य मतियों का कथन सुने, तब भ्रम उत्पन्न हो जाये, श्रद्धान से चिग जाये, इसलिये वह कथन प्रगट किया है, इसके प्रगट होने से श्रद्धा नहीं चिग सकते।''**

उपरोक्त कथन ध्यान में रखकर कर्म का पुंछल्ला सर्वत्र लगाना उचित नहीं है, ऐसा निर्णय कर, केवलज्ञान को स्वतंत्र, असहाय, स्वयंभू, अन्य निरपेक्ष अर्थात् कर्म के पुंछल्ला से रहित ही मानना न्याय संगत है।

[१३]

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव श्री नियमसार, गाथा १४ में यह ही अपने मधुर वाक्यों में पर्याय द्विविध (१) स्व-परापेक्ष और (२) निरपेक्ष है, ऐसा कहते हैं; तथा गाथा १६ में **कर्मोपाधि विवर्जित पर्यायों को निरपेक्ष अर्थात् स्वभावपर्याय कहते हैं।** उसकी टीका के पैरा नं. २ में

केवलज्ञान को परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्ध परिणति कही है। इसलिये केवलज्ञानी को स्वयंभू कहो, स्वभावपर्याय धारी कहो, कर्म का पुंछल्ला रहित कहो, सब एक बात है। केवलज्ञान को ऐसा स्वतंत्र मानना, जैन शास्त्रों की आज्ञा है। श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय १, गाथा ५२ में केवलज्ञान को 'कर्म विवर्जित' कहा है।

[१४]

तत्त्वार्थ सूत्र की टीका

भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से तत्त्वार्थ राजवार्तिक प्रसिद्ध हुआ है। उसमें अध्याय १०, सूत्र नं० १, पृष्ठ ८००-८०१ में टीका निम्नप्रकार है—

''**संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है और चारित्र ध्यानाग्नि के द्वारा जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया है,** उस मोहनीय का क्षय हो जाने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराल का क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यहाँ उत्पन्न होता है, ऐसा उपदेश दिया गया है।

मोहादिक का क्षय परिणाम विशेषों से होते हैं... इसके आगे समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थान में मोहनीय का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला का क्षय करके पाँच **ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरण और पाँच अंतरायों का अंत समय में विनाश कर, अचिंत्य विभूतियुक्त केवलज्ञान-दर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षीरूप से प्राप्तकर कमल की तरह निर्लिप्त (निर्लेप होकर) साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों का ज्ञाता, अप्रतिहत** अनन्त दर्शनशाली, मेघ पटलों से विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की तरह सौम्य, दर्शन और प्रकाशमान मूर्ति केवली हो जाता है।''

कितना स्पष्ट कथन है। उसका सार यह है कि—

(१) जीव ने संवर के समय ज्ञानावरणादि की जड़ को काट दिया था।

(२) पीछे ध्यानाग्नि से मोहनीय कर्म की सत्ता का सर्वथा छेद कर दिया।

(३) ध्यानाग्नि से मोहकर्म का क्षय हो जाने पर **जीव ने परिणाम विशेषों से तीनों कर्मों का क्षय कर दिया।**

(४) और उसी समय अपने परिणाम विशेष द्वारा भगवान ने अचिंत्य विभूति युक्त केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

(५) द्रव्यकर्म ने जीव पर कुछ भी कृपा की हो, ऐसा नहीं होता। किंतु जीव के परिणाम विशेष से कर्म का विनाश होता है।

(६) उपरोक्त कथन से जीव, पुद्गलकर्म की अवस्था को करते हैं और कर्म जीव की अवस्था को करते हैं, ऐसा नहीं समझना किंतु दोनों स्वतंत्रतया अपने-अपने कार्य (-कर्म) करते हैं। जब जीव की अवस्था केवलज्ञानरूप व्यक्त होती है, तब उसी समय केवलज्ञानावरण कर्म की अवस्था कर्मत्व का व्यय और अकर्म दशा के उत्पादरूप होती है, ऐसा अविनाभावी संबंध है; कोई किसी का कर्ता है नहीं।

[१५]

अब पंडित मक्खनलालजी न्यायालंकार द्वारा तत्त्वार्थ राजवार्तिक का अनुवाद हुआ है, वह देखिये—वहाँ पृष्ठ ११८४ में कहा है—वहाँ तो 'अर्थात्' लिखकर स्पष्ट किया है कि 'आत्मा ने अपने परिणाम विशेष से परिपूर्ण केवलज्ञान कर्मों का नाश करके प्रगट कर लिया है।

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है अर्थात् **क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ आत्मा दसवें गुणस्थान के अंत में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देते हैं।**

बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर वे **मुनिराज एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं।**

तत् क्षय प्रणिधान विशेषात्॥३॥ अर्थ—प्रणिधान का अर्थ परिणाम है अर्थात् **परमतप सहित आत्मा के निर्मल विशुद्ध भावों के द्वारा ही उन कर्मों का क्षय हो जाता है।** उसी का खुलासा इसप्रकार है—**इसप्रकार समस्त मोहनीय कर्म का भार उतारकर अंत में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अंतराय इन चौदह प्रकृतियों का सर्वथा क्षयकर तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञानस्वभाव केवल पर्याय को प्राप्त हो जाते हैं।** जिस केवल पर्याय की अचिंत्य विभूति की तर्कणा भी नहीं की जा सकती।

समस्त प्रतिघाती कर्म का सर्वथा नाश कर प्रगट हुआ है। परम दिगम्बर १०८ पूज्य आचार्य श्री उमास्वामी महाराज के सूत्र के उल्लेख द्वारा आचार्य श्री अकलंकदेव कहते हैं कि—**"जो केवली भगवान ऊपर कहे अनुसार केवल पर्याय को पा चुके हैं, परमौदारिक दिव्य शरीर धारण करते हैं, अपने प्रभाव से जिन्होंने अनंत वीर्य को प्राप्त कर लिया है, उन केवली भगवान को मोक्ष होती है।"**

इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान आत्मा के **प्रभाव से ही भगवान ने प्राप्त कर लिया है, भगवान के प्रति द्रव्यकर्मों ने कुछ कृपा की है, ऐसा जरा भी नहीं है, किंतु आत्मा के परिणाम विशेषों से ही उसका सर्वथा नाश हो गया है। आत्मा की वीतरागता, स्वतंत्रता और यथार्थता की यह बलवान घोषणा है।**

[१६]

पंचास्तिकाय गाथा १५१ निम्नप्रकार है।

कम्मस्सा भावेण य सव्वण्हु सव्वलोग दरिसीया।
पावदि इन्द्रिय रहिदं अव्याबाध सूहमणं तं॥१५१॥

इस गाथा की टीका में तो श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने यह कहा है कि **आत्मा की शुद्ध ज्ञप्तिक्रिया के बल से युगपत् ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय होता है और इसप्रकार होने से कथंचित् कूटस्थ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं।** सो यहाँ भी धवलशास्त्र, श्री प्रवचनसार, श्री सिद्ध भक्ति, परमात्मप्रकाश, स्वयंभूस्तोत्र का सिद्धांत स्वीकार करने में आया है (टीका पृष्ठ ३५०)

अब देखिये इस गाथा की श्री जयसेनाचार्य की टीका। श्री जयसेनाचार्य इस गाथा की टीका में कहते हैं-बड़े उपयोगी होने से यहाँ उसे दिया है। वह निम्नप्रकार है—

'द्वितीय शुक्लध्यानेन ज्ञानदर्शनावरणान्तराय कर्मत्रय युगपदत्व समये निमूलस्य केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टयस्वरूपं भावबोध प्राप्नोतीति, भावार्थ॥१५०-१५१॥

अर्थ—दूसरे शुक्लध्यन को ध्याता है, इस ध्यान से **ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय इन तीन घातियाकर्मों को एकसाथ इस गुणस्थान के अंत में जड़मूल से दूरकर केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय स्वरूप भावमोक्ष को प्राप्त कर लेता है।** यह भाव है॥१५०-१५१॥

'ध्यानेन' शब्द तीसरी विभक्ति में है। इसलिये वह आत्मा का साधन केवलज्ञान के लिये है और 'क्षयात्' पंचमी विभक्ति होने से उसका अर्थ होता है कि पुद्गलद्रव्य ध्रुव रहकर उसकी कर्मरूप पर्याय का व्यय होकर कर्म से अन्य प्रकार की पर्याय का उत्पाद हुआ है। क्योंकि वह अपादान कारक है, करणकारक नहीं है। करणकारक तो 'ध्यान' होने से उसको 'ध्यानेन' शब्द श्री जयसेनाचार्य ने कहा है।

उपसंहार

(१) श्री जिनागम का परमार्थसार ऊपर कहा है, वह ऐसा है।

(२) कर्म पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् कर्म का आश्रय छोड़ आत्मा का आश्रय लिया है, इसलिये केवली भगवान को श्री जिनेश्वर भगवान कहने में आता है।

(३) जिसकी श्रद्धा उपरोक्त आगम कथन अनुसार है, वह अरहंत के मत का है, जो उसमें गोलमाल करना चाहते हैं, वे अरहंत के मत से बाहर हैं।

(४) श्री पंचास्तिकाय, गाथा ९० तथा श्री परमात्मप्रकाश अध्याय १, गाथा ४६ की टीका अनुसार 'शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निज जीवास्तिकाय अर्थात् निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा निर्णय कर उसका आश्रय करना और उसकी सर्वथा आराधना करनी चाहिये।

(५) उसके फलस्वरूप शुद्ध (पर से) निरपेक्ष अर्थात् स्व-सापेक्ष स्वतंत्र पर्याय प्रगट होती है (देखो, श्री नियमसार गाथा १४-१५ और उसकी टीका)।

★

अरिहंत भगवंतों का संदेश

[मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रवचनों से]

अरिहंतपना वह आत्मा की पूर्ण पवित्र दशा है। शरीर में या वाणी में अरिहंतपना नहीं है; परंतु अपने ज्ञानादि गुणों की पूर्ण दशा प्रगट हो गई, उस पूर्ण दशा में ही अरिहंतपना है। वह अरिहंतदशा प्रगट करनेवाले आत्माओं ने पूर्वकाल में क्या किया था? कौन-सा उपाय करने से उन्हें अरिहंतदशा प्रगट हुई थी?—वह प्रथम जानने की आवश्यकता है।

जिन जीवों को अरिहंतदशा प्रगट हुई है, वे जीव पहले संसारदशा में थे। पश्चात् आत्मस्वभाव की यथार्थ रुचि होने पर सच्चे ज्ञान द्वारा उन्होंने अपना परिपूर्ण आत्मस्वरूप जाना और सच्ची श्रद्धा की—'मैं शुद्ध स्वभावी आत्मा हूँ, परवस्तु से भिन्न हूँ, मेरी शुद्धता मेरे स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होती है, परंतु परवस्तु से मेरी शुद्ध दशा प्रगट नहीं होती, तथा जो राग होता है, वह मेरा मूलस्वरूप नहीं है, परवस्तु मेरा कुछ करती नहीं है और मैं भी परवस्तु का कुछ नहीं कर

सकता।'—इसप्रकार उन आत्माओं ने यथार्थरूप से जाना और माना। तत्पश्चात् उसी श्रद्धा और ज्ञान का मंथन करते-करते क्रमशः स्वभाव की ओर से स्थिरता बढ़ती गई, त्यों-त्यों राग-द्वेष छूटता गया। अंत में परिपूर्ण पुरुषार्थ द्वारा संपूर्ण स्वरूप स्थिरता करके उन आत्माओं ने वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया। संपूर्ण वीतरागता और संपूर्ण सर्वज्ञता ही आत्मा की अरिहंत दशा है। इसप्रकार अरिहंतदशा प्रगट करनेवाले आत्माओं ने सबसे पहले आत्मा की रुचि द्वारा सच्चे श्रद्धान-ज्ञान किये और फिर स्थिरता द्वारा वीतरागता एवं संपूर्ण ज्ञानरूप अरिहंतदशा प्रगट की। अरिहंतदशा प्रगट होने से पूर्व पुण्य के कारण दिव्यध्वनि छूटी; उस दिव्यध्वनि में भगवान ने क्या कहा ?

यह ध्यान रखना कि दिव्यध्वनि, वह अरिहंतभगवान के आत्मा का गुण नहीं है, परंतु जड़ परमाणुओं की अवस्था है। वास्तव में उस दिव्यध्वनि का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने संपूर्ण ज्ञान और वीतरागता का कर्ता है। दिव्यध्वनि तो परमाणुओं की अवस्था है, परंतु भगवान की पूर्ण दशा का निमित्त पाकर उस वाणी में भी पूर्ण कथन आता है। जो उपाय करके भगवान ने अपनी पूर्ण अरिहंतदशा प्रगट की, उस उपाय का कथन उस वाणी में आता है। जैसा आत्मस्वभाव स्वयं जाना, वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभाव का स्वरूप उस वाणी में कहा है। और उस स्वरूप की प्राप्ति क्या करने से होती है, वह भी वाणी में आता है। अरिहंत भगवंत दिव्यध्वनि द्वारा कहते हैं कि—

जैसा मैं परिपूर्ण आत्मा हूँ, वैसे ही जगत के सर्व जीव परिपूर्ण स्वभाव से हैं। मैंने अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञ वीतरागदशा प्रगट की है, वैसी दशा सर्व जीव प्रगट कर सकते हैं। अपनी परिपूर्णदशा मैंने अपने स्वभाव में से प्रगट की है, किसी परवस्तु में से मेरी पूर्णदशा नहीं आयी। और जगत के सर्व जीवों की दशा अपने स्वभाव में से ही प्रगट होती है। मैं परद्रव्यों से भिन्न हूँ। किसी परवस्तु का मैं कुछ नहीं कर सकता, उसीप्रकार जगत का कोई जीव, परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता। जिसप्रकार मुझमें राग-द्वेष नहीं हैं, उसीप्रकार जगत के सर्व जीवों का मूलस्वरूप भी रागरहित संपूर्ण है। इसप्रकार प्रथम स्वाधीन स्वरूप को जानकर उसकी श्रद्धा करो और उसी स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान के दृढ़ अभ्यास द्वारा स्थिरता करके राग का नाश करने से वीतरागता होकर केवलज्ञानदशा प्रगट होती है। यही अरिहंतदशा प्रगट करने का उपाय है—ऐसा श्री अरिहंत भगवान ने कहा है।

इसप्रकार अरिहंत भगवान ने क्या किया और क्या कहा—उसे यदि जीव भलीभाँति जान ले तो स्वयं वे उपाय करे और उनसे विपरीत उपाय छोड़ दे।—

* अरिहंतदशा प्रगट करने से पूर्व अरिहंत भगवान का सच्चा स्वरूप जानना चाहिये।

* अरिहंत भगवान आत्मा थे और आत्मा में से ही उन्होंने अरिहंत दशा प्रगट की है।

* जैसा अरिहंत का आत्मा है, वैसे ही सर्व आत्मा हैं, और समस्त आत्मा सच्चे उपाय से पूर्णदशा प्रगट कर सकते हैं।

* अरिहंत के आत्मा ने पहले सच्चा ज्ञान और सच्ची श्रद्धा की थी कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, राग मेरा स्वभाव नहीं है।—इसप्रकार स्वभाव को जानकर फिर उन्होंने स्थिरता द्वारा राग को छोड़ा था और केवलज्ञानदशा-अरिहंतदशा प्रगट की थी। इसलिये जीवों को प्रथम सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये और तत्पश्चात् स्थिरता द्वारा राग के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये।

—ऐसा श्री अरिहंत भगवान का उपदेश जगत के जीवों को सच्चे धर्म की वृद्धि करने के लिये है... संतों ने साक्षात् उस उपदेश को झेलकर जगत के समक्ष रखा है।

भव के अभाव के लिये भव

स्वामीजी अत्यंत संजीदगी से कहते हैं कि—यह एक भव अनंत भवों को मेटने के लिये मिला है। यह भव, भव बढ़ाने के लिये नहीं हो सकता। अरे! इस भव में भव का अभाव नहीं किया तो कब करोगे? भव के अभावरूप होना—अर्थात् मोक्ष की ओर परिणमित होना, यह इस भव में करना है?

केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली

भेदज्ञान-ज्योति

यह जीव जब भेदज्ञान को उत्पन्न करके अपने दर्शन-ज्ञानस्वभाव में एकतारूप परिणमित हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, तब वह 'स्वसमय' है....

भेदज्ञान ज्योति कैसी है? कि केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली है। रागादि के साथ एकत्वबुद्धि तो चार गतिरूपी संसार को उत्पन्न करनेवाली थी।

जीव को भेदज्ञान हुआ कब कहा जाता है? कि सर्व-परद्रव्यों से छूटकर और परद्रव्यों की ओर के रागादिभावों से भी पृथक् होकर, अपने स्वभाव के साथ ही एकतारूप सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित हो, तब उस जीव को भेदज्ञान ज्योति का उदय हुआ है।

जिस काल जीव ने स्वसन्मुख होकर स्वभाव में एकता की, उसी काल वह सर्व परद्रव्यों से छूट गया;—इसप्रकार भेदज्ञान होने पर, स्व में एकता और पर से भिन्नता होती है। ऐसा भेदज्ञान वह केवलज्ञान का साधन है।

अनादि से आत्मा स्व-पर की भिन्नता के अज्ञान के कारण रागादि में एकत्वरूप से लीन होकर वर्तता हुआ, राग में लीन हुआ, सो वह कर्म में ही लीन हुआ—ऐसा कहा जाता है, और उसी को परसमयपना कहते हैं; क्योंकि राग से भिन्न चैतन्य का अस्तित्व ही उसे भासित नहीं होता।

जब भेदज्ञान हुआ, तब ज्ञानी को भिन्न आत्मा की प्रतीति आयी, फिर उसे रागादि में किंचित् मात्र एकत्वबुद्धि नहीं होती। वह राग से पृथक् होकर अपने निजस्वभाव में एकतारूप परिणमित होता है। निजस्वभाव क्या?—कि दर्शन-ज्ञान स्वभाव, सो निजस्वभाव है; उसमें जो परिणमित हुआ, वह मोक्षमार्ग में आ गया।

भाई! यह तो धैर्यवान पुरुषों का कार्य है। धैर्य रखकर भीतर ज्ञान में स्वभाव को बराबर ग्रहण करे और उसमें परिणति करे, तब स्वसमयपना होता है; वही मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञानी को स्वरूप में एकतारूप परिणमन और उसका ज्ञान, वह एक ही काल में वर्तता है; ज्ञान का तथा परिणमन का काल भिन्न नहीं है। जिस क्षण राग से भिन्न शुद्ध आत्मा को जाना, उसी क्षण उस स्वभाव में एकतारूप परिणमन हुआ। यदि वैसा परिणमन न हो और राग में एकतारूप परिणमन रहे तो उसे वास्तव में भिन्नता का ज्ञान हुआ ही नहीं है। ज्ञान का तथा एकतारूप परिणमन

का एक ही काल है, स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान और स्व में एकतारूप परिणमन, वह स्वसमयपना है तथा स्व-पर की भिन्नता का अज्ञान और पर में एकतारूप परिणमन, वह परसमयपना है।

स्वभाव में एकत्वरूप निर्विकल्प परिणति ही केवलज्ञान उत्पन्न करनेवाली है; इसके सिवा अन्य साधन कहे जाते हैं, वे सब व्यवहार से हैं।

स्व-समयरूप परिणमन, वह मोक्षमार्ग है, उसका मूल भेदज्ञान विद्या है, और वह केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली है।

परसमयरूप परिणमन, वह संसार का कारण है, उसका मूल अविद्या है, और वह चारगति को उत्पन्न करनेवाली है।

स्व-समयपने में तो स्वभाव के आधीन परिणमन है और परसमयपने में मोह के आधीन परिणमन है; अविद्या से स्वयं स्वभाव को भूलकर मोह के आधीन होता है, तब अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर रागादि परभाव में एकतारूप परिणमित होता है, और स्व-पर का भेदज्ञान करके स्वयं ही स्वभाव में एकता करके रागादि से भिन्नरूप परिणमन करता है। जीव कहीं तो एकता करता है:—

*** स्व में एकता करके परिणमित हो वह मोक्षमार्ग,**
*** पर में एकता करके परिणमित हो वह बंधमार्ग।**

इसप्रकार उसकी परिणति से ही उसका मोक्ष या संसार है। 'समय' अर्थात् जीव नाम का पदार्थ; वह कैसा है ? उसके उत्तर में आचार्यदेव ने जीव का स्वभाव बतलाकर, उसकी अवस्था में स्व-समय और पर-समय ऐसा दोनों प्रकार का परिणमन बतलाया। जो ऐसे स्व-समय और पर-समय दोनों को पहिचाने, वह पर-समय से छूटकर स्व-समयरूप से परिणमित हुए बिना न रहे।

आराधना

''सत्संग की अर्थात् सत्पुरुष की पहिचान होने पर भी वह योग निरंतर न रहता हो तो, सत्संग से प्राप्त हुआ है, ऐसा जो उपदेश, उसकी प्रत्यक्ष सत्पुरुष जानकर विचारणा एवं आराधना करनी चाहिये—कि जिस आराधना से जीव को अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।''

[-श्रीमद् राजचन्द्रजी]

धन्य वह मुनिदशा

ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं

जहाँ-जहाँ पंचकल्याणक—जिनेन्द्र प्रतिष्ठा होती है वहाँ, भगवान के दीक्षा-कल्याणक के बाद उसी दीक्षावन में स्वामीजी वैराग्य प्रवचन के द्वारा दिगम्बर मुनिदशा का अतीव बहुमान करते हैं—जिसके सुनने से चारित्रदशा की भावना जागृत होती है, और ऐसा लगता है मानों कोई साक्षात् मुनिराज के समीप में ही हम बैठे हों। ऐसे प्रवचन का एक भाग यहाँ दिया जाता है।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

भगवान आज चारित्रदशा प्रगट करके मुनि हुए। अहा! धन्य वह चारित्रदशा! इन्द्र व चक्रवर्ती भी उसके चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं, सम्यग्दृष्टि उसकी भावना भाता है; इस दशा की क्या बात! धन्य है.. मोक्ष के राजमार्गी उन मुनिवरों को। भवदु:ख से जिसको मुक्त होना हो उसको ऐसी मुनिदशा पहचान के प्रगट करनी ही होगी। सम्यग्दर्शन-ज्ञान होते हुए भी वीतरागी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं। मुनिवर आत्मरस में लीन होकर निर्विकल्प आनंद का पान करते हैं। जैसे पूर्णिमा का चंद्र समुद्र को उछालता है, वैसे चैतन्य के ध्यान के द्वारा मुनिराज भीतर के आनंदसमुद्र को उछालते हैं। अहा! उस आनंद के अनुभव के पास इंद्र के वैभव की तो क्या बात—तीन लोक के वैभव भी अत्यंत तुच्छ हैं। वनवासी दिगंबर संत श्री पद्मनंदीसवामी कहते हैं कि हे नाथ! आपने केवलज्ञान-निधि प्रगट करके चैतन्य के अपार अचिंत्य निधान हमको प्रगट दिखाया, तो अब ऐसा कौन जीव है जो इस चैतन्यनिधान के सामने इंद्रासन को भी तृणवत् समझ कर दीक्षित न हो ? भीतर की नि:शंकता से चैतन्यवीणा के तार झनझनाकर धर्मात्मा के हृदय में से रणकार उठती है कि मैं तो सदैव मेरे ज्ञान व आनंदरस से भरपूर एक हूँ, यही मेरी अनादि की टेक है; मोह मेरे स्वरूप में नहीं, शुद्ध चेतना का समुद्र ही मेरा रूप है। पहले ऐसे आत्मभाव करके बाद में जब उसमें लीनता होती है, तब ही मुनिदशा होती है। इस मुनिदशा की महिमा अपार है।

मुनिवरों की परिणति एकदम अंतर्स्वरूप में ढली हुई है, इससे जगत के प्रति उनको अतीव औदासीन्य है। तीर्थंकर जब मुनि होकर के नग्नरूप से वन में ध्यान में खड़े होंगे—उस प्रसंग का दृश्य कितना वीतरागताप्रेरक होगा ? पुराणों में उसका अद्‌भुत वर्णन आता है। सिंह व हिरण जैसे वन जंगल के पशु भी आश्चर्य से मुनिराज के सामने एकतार होकर देखते रहते हैं और उनकी शांत

छाया में एकत्रित होकर बैठते हैं। मुनिराज तो अपने ध्यान में मग्न हैं... अंतर की आनंदधारा में लवलीन हैं। ऐसी चारित्रदशा यह कोई असिधारा नहीं, यह तो आनंद की धारा है; बाहर से देखनेवाले कायर जीवों को वह असिधारा जैसा लगता है किंतु अंतर में तो आनंद की ही धारा है। यदि चारित्रदशा में आनंद की धारा न हो व दु:ख हो तो कौन उसको अंगीकार करेगा? चारित्र तो स्वरूप में स्थित है, और स्वरूप की स्थिरता में आनंद का अनुभव है। सम्यग्दर्शन के बिना ऐसी चारित्रदशा नहीं होती और ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। इसप्रकार मुक्ति का मूलकारण सम्यग्दर्शन ही ठहरा और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से ही मोक्षमार्ग की पूर्णता होती है।

सिद्धपद के साक्षात् साधक तो चारित्रधारक मुनिराज हैं। उस चारित्रदशा में कषायें अत्यंत क्षीण हो जाती हैं। चैतन्य के आनंद का अनुभव होते ही बाह्य विषयों के प्रति सहज वैराग्य हो जाता है, क्योंकि परिणति का प्रवाह भीतर की ओर ढला हुआ होने से बाह्य विषयों की ओर से वह संकुचित हो रहा है। मुनि की ऐसी सहज अंतरपरिणति को अज्ञानी बाह्य से नहीं पहिचान सकता।

अहो! धन्य वह मुनिदशा! मुनि श्री कहते हैं कि हम तो अपने चिदानंदस्वभाव में झूलनेवाले हैं; इस संसार के भोग के लिये हम नहीं अवतरे, हम तो अब हमारे आत्मस्वभाव में जाते हैं। अब तो हमारे स्वरूप में लीन होने का प्रसंग आया है। अंतर के हमारे आनंदकन्द स्वभाव की श्रद्धा सहित उसमें रमणता करने के लिये हम जागे, इस भाव में अब भंग होनेवाला नहीं। अनंत तीर्थंकर जिस पावन पथ पर चले, उसी पंथ के चलनेवाले हम हैं।

तीर्थंकर भगवान को आत्मज्ञान तो जन्म से ही होता है और वैराग्य होने पर वे भावना भाते हैं कि मेरी चारित्रदशा पूरी न हुई और राग बाकी रह गया, इसी से यह अवतार हुआ। अब उस राग को छेद करके, चारित्रदशा पूर्ण करके इसी भव में मैं मेरी मुक्तदशा प्रगट करूँगा। संसार के भोग के लिये मेरा अवतार नहीं, किंतु आत्मा के मोक्ष के लिये मेरा अवतार है... मैं भगवान होने के लिये अवतरित हुआ हूँ। यह भव, तन व भोगों से उदासीन होकर असंसारी अशरीरी व अभोगी ऐसे अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में लीन होकर के वन-जंगल में वैराग्य के आनंद की मस्ती में (मौज में) झूलने के लिये मेरा अवतार है। इसप्रकार संसार से विरक्त हो भगवान आत्मिक आनंद के अनुभव में झुके। धन्य उनका अवतार... नमस्कार हो ऐसे राजमार्गी मुनिवरों को!

हम सबको भी ऐसी मुनिदशा की भावना करनी चाहिये।

सफल हो धन्य धन्य वा घड़ी।
जब ऐसी अति निरमल होसी परम दशा हमरी।

मुमुक्षु का मंगल अभिप्राय

दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की आराधना से ही सिद्धि होती है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार सिद्धि नहीं होती, इसलिये दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की उपासना करनी चाहिये—ऐसा मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। चैतन्य की प्राप्ति करना ही जिसका मंगल अभिप्राय है, ऐसा मोक्षार्थी जीव मुक्ति के लिये प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके उसकी श्रद्धा करता है। यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ और उसके सेवन से पूर्ण सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी—ऐसी नि:शंका श्रद्धापूर्वक उसमें लीनता हो सकती है। मोक्ष की भनक सुनता हुआ जो शिष्य आया है, वह मंगल अभिप्रायवाला शिष्य सर्वप्रकार के प्रयत्न द्वारा आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है और फिर उसमें स्थिर होने का उद्यम करता है; उसे छुटकारे की ही बात रुचती है। श्रवण में, मनन में, शास्त्र पठन में सर्वत्र वह छुटकारे की ही बात ढूँढ़ता है। पहली बात यह है कि—आत्मा को जानना। जहाँ वास्तविक ज्ञान किया, वहाँ 'मैं ऐसा आत्मा हूँ'—ऐसी नि:शंक श्रद्धा भी हुई। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को राग का अभिप्राय नहीं है, संसार का अभिप्राय नहीं है, एकमात्र चैतन्य प्राप्ति का ही मंगल अभिप्राय है, बंधन से छुटकारे का ही अभिप्राय है। जिसप्रकार धन की प्राप्ति का अभिलाषी राजा को पहिचानकर, उसकी श्रद्धा करके, अति उद्यम पूर्वक उसे रिझाता है; विनय से-भक्ति से-ज्ञान से आदि सर्वप्रकार से सेवा द्वारा राजा को प्रसन्न करता है; उसीप्रकार मोक्षार्थी जीव अंतर्मुख प्रयत्न द्वारा प्रथम तो आत्मा को जानता है और श्रद्धा करता है; ज्ञान द्वारा जिस आत्मा की अनुभूति हुई, वह अनुभूति ही मैं हूँ—ऐसी आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है और पश्चात् उस आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा को साधता है।—**यह आत्मसाधना की रीति है।**

बालकों से लेकर वृद्धों तक सबको यह आत्मा ज्ञानस्वरूप से ही अनुभव में आता है, तथापि भेदज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी जीव उसका राग के साथ एकमेक अनुभव करता है; आत्मा को रागमय मानकर रागयुक्त ही अनुभव करता है, इसलिये उसे आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन या चारित्र उदय को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार उसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती। ज्ञानी धर्मात्मा सम्यक् अभिप्राय द्वारा आत्मा का राग से भिन्न अनुभव करता है,—ऐसे अनुभव के बिना किसी प्रकार

आत्मा की सिद्धि नहीं होती। इसलिये प्रथम अंतर्मुख पुरुशार्थ द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानकर उसका श्रद्धान और अनुभव करना चाहिये।—ऐसा भगवान संतों का मंगल अभिप्राय है, ज्ञानस्वभाव की सेवा-उपासना-आराधना करने का उपदेश है। जब पर्याय को अंतर्मुख करके ज्ञानस्वभाव के साथ एकाकार करे और राग से पृथक् होकर ज्ञान का अनुभव करे, तब ज्ञान की उपासना की कहलाती है। आत्मा ज्ञानस्वभावी होने पर भी उसने ज्ञान की ऐसी उपासना पूर्वकाल में एक क्षण भी नहीं की है, राग में तन्मय होकर अज्ञान का ही सेवन किया है, अनात्मा की ही सेवा की है। ज्ञान की सेवा तो तब होती है कि जब अंतर में राग से पृथक् होकर, ज्ञानस्वभाव को जानकर श्रद्धा में तथा अनुभव में ले। मुमुक्षु का मंगल अभिप्राय तथा मंगल कामना यह है कि—राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का सदा सेवन अर्थात् निरंतर अनुभवन करना चाहिये। यही सिद्धि का पंथ है। आचार्यदेव कहते हैं कि—हम आत्मा का निरंतर चैतन्यस्वरूप से अनुभवन करते हैं और अन्य जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी निरंतर उसका अनुभवन करते हैं और हे मुमुक्षु जीवो! तुम भी आत्मा को सर्व प्रयत्न से जानकर, श्रद्धा में लेकर, उसका अनुभव करो!

★★★

साधक जीव को अपने स्वरूप की लगन लगी है। वह स्वरूप के लगन के मंडप में सिद्ध भगवंतों को आमंत्रित करता है कि हे सिद्ध भगवंतों! मेरी मुक्ति के मंगल प्रसंग पर मेरे घर—मेरे चैतन्य मंडप में पधारो... आपके पधारने से मेरे मंडप की (-मेरे श्रद्धाज्ञान की) शोभा बढ़ेगी।

(वैशाख सुदी दौज के प्रवचन में से)

★★

श्री कानजीस्वामी का
पोष वदी ८ कुन्दकुन्द-अंजलि पर
अध्यात्म संदेश
मुनिवरों का परमसुख

परमात्मप्रकाश की गाथा ११७-११८ पर प्रवचन करते हुए मुनिवरों की अंतर की दशा का जो परम महिमा प्रसिद्ध किया वह यहाँ दिया जाता है—

बाह्य विषयों के संग में लगे हुए, और तीव्र मोहाग्नि से दग्ध ऐसे सभी जीव इस संसार में दु:खी हैं। मात्र विषय संग से रहित आत्मलीन मुनिवर ही सुखी हैं। मुनियों की साथ अविरत सम्यग्दृष्टि को भी यत्किंचित् सुख है—यह बात समझ लेना।

आनंदस्वरूप आत्मा के स्वसंवेदन से जो आनंद धर्मात्मा को आता है, विषय संग में लीन अज्ञानी को उस आनंद का आभास भी नहीं है। धर्मात्मा ने बहिर्मुख विषयों में से सुखबुद्धि छोड़कर आनंदस्वरूप आत्मा में प्रवेश किया है, वहाँ उसको विषय रहित सहज-स्वाभाविक आत्मसुख का वेदन होता है, वह सुख जगत के कोई विषयों में नहीं है। वह सुख तो सिद्ध भगवन्तों की जाति का है।

इन्द्र के वैभव का भोगबटा करनेवाला जीव सुखी है, ऐसा न कहा। सुखी तो वही है कि जो जीव अन्तर्मुख होकर चैतन्य के निजवैभव का वेदन करता है।

सुखिया जगत में सन्त, दुखिया सब दुर्जन जानो।

आत्मस्वरूप में जो रम रहे हैं, वह जीव सुखी है, और आत्मा को भूल के विषय कषायों की चिंता में जो लीन हैं; ऐसे दुर्जन दु:खी हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती समकिती भी संत हैं, वह संत अनंत सुख के धाम ऐसे निजस्वरूप को जान के उसको ही सदैव उपादेयरूप से ध्याता है। मुनिराज दिन-रात उसके ध्यान में मशगूल रहते हैं, और उसके ध्यान में उनको आनंद की धारा बहती है। अनुभव के इस आनंद की जगत के बाह्य विषयों में गंध भी नहीं है। ऐसे आनंद का अनुभव किसको हुआ, उसी को मोक्षमार्ग हुआ। मोक्षमार्ग कहो या आनंद का अनुभव कहो।

'आनंद' में मोक्षमार्ग समाता है, 'दु:ख' में बंधमार्ग समाता है। मोक्षमार्ग आनंद के वेदनरूप हैं, बंधमार्ग दु:खरूप है। मोक्ष पूर्ण आनंदरूप है, तो उसका मार्ग भी आनंदरूप ही है।

संसार दु:खरूप है, उसके कारणरूप भाव भी दु:खरूप है। मोक्षमार्गी मुनिवर महा आनंदरूप है, आनंद का अनुभव करते-करते वे मोक्ष में चले जा रहे हैं। मुनि जो आनंद में रमते-रमते आत्मा को साधते हैं, इस मुनिपद में दु:ख नहीं है। मुनिपद में जिसको दु:ख लगे, उसने मोक्षमार्ग को जाना ही नहीं। मुनिपना यह तो है दु:ख से छूटने का मार्ग, उसमें दु:ख कैसे हो सकता है ? अतीन्द्रिय सुख में जो झूले, उसी का नाम मुनि है। मुनि तो अनंत सुख के धाम ऐसे निजात्मा में लीन होकर आनंद के झरने को पीते हैं।

दु:ख तो मोह का है। जिसको मोह नहीं, उसको दु:ख कैसा ? मुनिदशा में तो बड़ा दु:ख है -ऐसा अज्ञानी को लगता है क्योंकि उस अज्ञानी को संयोग में सुखबुद्धि है; आत्मिक सुख को उसने पहचाना नहीं है। मुनि को दु:खी माननेवाला न तो मुनि को पहचानता है और न मोक्षमार्ग को भी जानता है। मुनि तो बाह्य सामग्री के बिना भी निज स्वरूप के निराकुल आनंद का अनुभव कर रहे हैं, उन्होंने सुख के दरिये में डुबकी लगाई है, उनके जैसा सुखी इस जगत में कौन है ?

बाह्य में सुख माननेवाले को सुख कभी नहीं मिल सकता। रे जीव ! तुझे सुख होना हो तो तेरे सुख स्वभाव को जान। आनंद तो आत्मा का स्वरूप ही है, उसमें बाह्य विषयों की आवश्यकता ही कहाँ है ? जगत को खुशी करने में तूने अनंत काल व्यर्थ गमाया, अब तो अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव से ही तू खुशी हो-प्रसन्न हो, राजी हो, आनंदित हो। राग से राजी न हो, आनंद का भण्डार तेरे में भरा है-उसी से राजी हो (राजी=खुशी, प्रसन्न, आनंदित) चैतन्य सुख को देखनेवाले धर्मात्मा जगत के किसी भी विषय में ललचाते नहीं।

दीक्षा काल में तीर्थंकर जैसा आत्मसुख का अनुभव करते हैं, वीतराग भावना में परिणत सभी मुनियों को भी वैसा ही आत्मसुख होता है। एक चक्रवर्ती या तीर्थंकर मुनि हो और दूसरा कोई गरीब आदमी मुनि हो, आत्म अनुभव का सुख तो दोनों को एकसा ही होता है, पुण्यवंत को ज्यादा सुख और दूसरे को कम सुख-ऐसा नहीं है।

क्योंकि दोनों का आनंद पुण्य-सामग्री से पर है, दोनों का आनंद स्वभाव से प्रगट हुआ है। बाह्य सामग्री के भेद से उसमें कोई भेद नहीं है। स्वानुभव में मुनिराज को जो सुख है, अज्ञानी को उसके नमूना की भी खबर नहीं है।

हे जीव ! तू सामग्री का मोह छोड़कर सुख के धाम ऐसे अपने आत्मस्वरूप की रुचि कर अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर भगवान को अपने में ही देख।

आनंदमग्न मुनि भगवंतों को नमस्कार!

प्रभुदर्शन का आह्लाद

श्री पद्मनन्दि पच्चीसी में एक जिनवर स्तोत्र है; उसमें कहते हैं कि—'हे जिनेश! हे प्रभो! आपके दर्शन से मेरे नेत्र सफल हुए हैं तथा मेरा मन और शरीर मानों अमृत से शीघ्र सिंच गये हों, ऐसा भास होता है।' अपने आत्मा का लक्ष और सर्वज्ञ के गुणों की पहिचानपूर्वक कहते हैं कि—हे नाथ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा आपको देखने से मेरी श्रद्धा-ज्ञान पर्याय सफल हो गई। बाह्य में जिनदेव की प्रतिमा के दर्शन से बाह्य चक्षु सफल हुए और अंतरंग में जिनवर स्वभावी आत्मा को देखते ही अंतर के श्रद्धा-ज्ञानरूपी चक्षु सफल हो गये! हे जिन! आपको देखकर मैं अपने को सफल मानता हूँ। विकल्प होते हैं, उन्हें मैं देखता ही नहीं। तुम्हारे दर्शन से मेरे नेत्र सफल हुए, अवतार सफल हुआ और अनंत काल में नहीं हुआ ऐसा अपूर्व आत्मभाव प्रगट हुआ। तुम्हारी पहिचान से मेरा जीवन सफल हो गया... धन्य हो गया! हे नाथ! तुम्हारे दर्शन से आत्मा तो आनंदमय हुआ... अमृत से सिंच गया, परंतु शरीर और मन भी अमृत से सिंच गये हैं। जिसप्रकार दीर्घ काल के पश्चात् अपने प्रिय पुत्र को देखते ही माता के हृदय में हर्ष उमड़ पड़ता है, पुत्र प्रेम से छाती भर आती है और वस्त्र की कसें टूटकर स्तनों से दूध की धारा छूटती है.. उसीप्रकार हे चैतन्य भगवान! अनंत काल में तुम्हारे दर्शन मिले; आपके दर्शनों से स्वभाव की प्रतीति होने से मेरा आत्मा उल्लसित हुआ, मेरी दृष्टि के बंधन टूट गये और अमृत की धारा फूट पड़ी... मैं कृतकृत्य हुआ। अहा! ऐसा न समझना कि आचार्यदेव ने यह वाणी का विलास किया है, यह तो ज्ञानी का यथार्थ प्रतीति के भाव का उल्लास है; असंख्य आत्मप्रदेश आनंद से प्रफुल्लित हुए हैं। हे नाथ! तुम्हारे दर्शनों से मेरा आत्मा तो अमृत रस से सिंच गया है, परंतु उसके पड़ोसी इन शरीर-मन-वाणी को भी उसके छींटे लगने से यह भी अमृतरस में भीग गये हैं! इसप्रकार पूर्ण परमात्मपद के साधक धर्मात्मा को पूर्ण पद को प्राप्त ऐसे भगवान के प्रति उल्लास आता है.. उनके प्रतिबिम्ब के दर्शन होते ही मानों साक्षात् भगवान से ही भेंट हुई हो—ऐसा आह्लाद उत्पन्न होता है।

—इसप्रकार जिसे जिनदेव के प्रति यथार्थ प्रतीतिपूर्वक उल्लास आये, उसने भगवान के दर्शन और सच्ची भक्ति की है।

आनंद की जननी वैराग्य भावना

अहो, अडोल दिगम्बर वृत्ति को धारण करनेवाले, वन में वास करनेवाले तथा चिदानंदस्वरूप आत्मा में लीन रहनेवाले मुनिवर जो कि छट्ठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अमृत कुंड में निमग्न हैं—उनका अवतार सफल हैं... ऐसे संत-मुनिवर भी वैराग्य की बारह भावनाएँ भाकर वस्तुस्वरूप का चिंतवन करते हैं। वस्तुस्वरूप को लक्ष में रखकर यह बारह वैराग्य भावनाएँ भाने योग्य हैं। इन भावनाओं को आनंद की जननी कहा है; क्योंकि वस्तुस्वरूपानुसार वैराग्य की भावनाओं का चिंतवन करने से चित्त की स्थिरता होकर भव्य जीव को आनंद होता है तथा उन्हें श्रवण करते ही मोक्षमार्ग में उत्साह पैदा होता है। अहा, तीर्थंकर भी दीक्षा के समय जिसका चिंतन करते हैं—ऐसी वैराग्यरस से ओतप्रोत यह बारह भावनाएँ भाते हुए किस भव्य को मोक्षमार्ग का उत्साह जागृत नहीं होगा ?

आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप से नित्य है, उसकी जिसे प्रतीति और भावना नहीं है तथा देह के संयोग में ही आत्मबुद्धिपूर्वक वर्तता है, ऐसा अज्ञानी जीव तो बंदूक की गोली छूटने पर 'हाय! हाय! मैं मर गया!'—ऐसे अज्ञान से तीव्र भय प्राप्त करके महा दुःखी होता है; जबकि नित्य ज्ञानानंदस्वरूप की भावना भानेवाला ज्ञानी तो निर्भय है कि—मेरे ज्ञानानंदस्वरूप को छेदने या नष्ट करने की शक्ति बंदूक की गोली में या जगत के किसी पदार्थ में नहीं है।—इसप्रकार ज्ञानानंदस्वरूप की भावनापूर्वक ज्ञानी को समाधान वर्तता है। कदाचित् जरा कमजोरीवश भय के कारण राग-द्वेष हो जायें, तथापि ज्ञानानंदस्वरूप की भावना से हटकर उन्हें राग-द्वेष नहीं होते, इसलिये उनके राग-द्वेष का प्रमाण अति अल्प होता है। और अज्ञानी कदाचित् राष्ट्र आदि के अभिमान के कारण बहादुरी के साथ छाती पर बंदूक की गोलियाँ झेल रहा हो, तथापि नित्य ज्ञानानंदस्वरूप की भावना न होने से तथा शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि होने से उसके अभिप्राय में राग-द्वेष की मात्रा अत्यंत तीव्र (अनंतानुबंधी) है।

अहा, भावना किस ओर जाती है, उस पर आधार है। ज्ञानी की भावना का झुकाव आत्मस्वभाव की ओर है, वही भावना आनंद की जननी तथा भव का नाश करनेवाली है। अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार की वैराग्य भावनाओं का झुकाव तो नित्य-शरणभूत चिदानंदस्वभाव

की ओर ही होता है। शरीरादि संयोगों को अनित्य जानकर उनसे विरक्त होकर नित्य ज्ञानानंदस्वभाव की ओर उन्मुख होना ही सच्चा अनित्य भावना का तात्पर्य है। इसप्रकार स्वभाव की ओर उन्मुखतापूर्वक वैराग्यभावनाओं के चिंतन से धर्मात्मा के आनंद में वृद्धि होती जाती है। इसलिए यह बारह वैराग्य भावनाएँ आनंद की जननी–आनंद को जन्म देनेवाली हैं। आनंदाभिलाषी जीवों को वस्तुस्वरूप के लक्षपूर्वक यह भावनाएँ भाने योग्य हैं।

[—द्वादशानुप्रेक्षा के प्रवचनों से]

आत्मा की उत्कंठा

जिसे आत्मा की सच्ची उत्कंठा जागृत हो, उस जीव की दशा कैसी होती है ? यह समझाते हुए एक बार गुरुदेव ने कहा था कि—आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन से पूर्व स्वभाव समझने का इतना तीव्र रस होता है कि—ज्ञानी के पास स्वभाव सुनते ही उसका ग्रहण होकर अंतर में उतर जाता है... आत्मा में परिणमित हो जाता है.. 'अहो ! मेरा ऐसा स्वभाव गुरु ने बतलाया !'—इसप्रकार गुरु का उपदेश गहराई से आत्मा को स्पर्श कर जाता है।

जिसप्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद पड़ते ही वह उसे चूस लेता है, अथवा दहकते हुए लोहे पर पानी की बूँद गिरते ही वह चूस लेता है, उसीप्रकार जिसे तीव्र आत्मजिज्ञासा जागृत हुई है... तथा जो दुःख से अति संतप्त है, ऐसे आत्मार्थी जीव को श्रीगुरु द्वारा आत्मशांति का उपदेश मिलते ही वह उसे चूस लेता है अर्थात् तुरंत ही उस उपदेश को अपने आत्मा में परिणमित कर देता है।

आत्मार्थी को स्वभाव की जिज्ञासा और आतुरता इतनी उग्र होती है कि 'स्वभाव' सुनते ही सीधा हृदय में उतर जाता है.. अरे ! 'स्वभाव' कहकर ज्ञानी क्या बतलाना चाहते हैं ? उसी का मुझे

ग्रहण करना है—इसप्रकार रोम-रोम में स्वभाव के प्रति उत्साह जागृत होता है और परिणति का वेग स्वसन्मुख हो जाता है। पुरुषार्थ में इतनी वृद्धि करते हैं कि स्वभाव प्राप्त करके ही रहेगा। स्वभाव की प्राप्ति न हो तब तक उसे चैन नहीं पड़ता।

—ऐसी दशा हो तब आत्मा की सच्ची उत्कंठा कही जाती है और ऐसी दशावाला जीव अंतर परिणति में आत्मा को प्राप्त करके ही चैन लेता है। जब तक ऐसा अंतर परिणमन न हो, तब तक अपने आत्मार्थ की कचापन मानकर, अत्यधिक अन्तरशोध करके आत्मार्थ में उग्रता लाते हैं।

चलो दादा के दरबार

(सौ राजकुमारों की कहानी)

('जैन बालपोथी' के पश्चात् तैयार होनेवाले बाल साहित्य का एक नमूना यहाँ दिया जाता है। बालकों! इस कहानी में जीव और अजीव वस्तु की जानकारी दी गई है, वह तुम समझना—और इन राजकुमारों के जीवन का आदर्श अपने जीवन में उतारना।)

[१]

ऋषभदेव भगवान के जमाने की यह बात है। आज से लाखों-करोड़ों और अरबों से भी अधिक साल पहिले भगवान ऋषभदेव इस भरतभूमि में विचरते थे। उस समय उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती इस भरतक्षेत्र पर राज्य करते थे। उस समय जैनधर्म बहुत समृद्ध एवं उन्नत था तथा धर्मकाल प्रवर्तित थे। अनेक केवली भगवान, सन्त-मुनि और धर्मात्मा इस भूमि में विचरते थे।

भरत महाराज के अनेक पुत्र थे। उन सबका रूप इन्द्र को भी आनंद देनेवाला था। परंतु बालकों! यह ध्यान रखना कि वह रूप तो शरीर का है, आत्मा की शोभा उससे नहीं है। आत्मा की

शोभा तो धर्म से है। भरत के राजकुमार धार्मिक थे, आत्मा को पहिचानते थे और वे राजकुमार मोक्ष जानेवाले थे।

[२]

एक बार छोटी उम्र के १०० राजकुमार खेलने के लिये वन में गये। वहाँ गेंद बल्ले का खेल खेलते थे। जैसे अज्ञान के कारण जीव इस संसार की चार गतियों में इधर से उधर मारा-मारा फिरता है, उसीप्रकार खेल में बल्ले की मार से गेंद चारों दिशा में उछलती थी। ये खेलनेवाले बालक तो ज्ञानी और वैरागी थे। इसलिये खेल में से भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करते थे कि—'अरे, इस संसार में मोहरूपी बल्ले की मार खा-खाकर गेंद की तरह खूब ही भटके, अब तो आत्मसाधना पूरा करके शीघ्र ही इस संसार से छूट जायें। श्री ऋषभदादा तो केवलज्ञान सहित तीर्थंकर पद पर विराजते हैं; पिताजी भी इसी भव से मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, अपने को भी जल्दी ही इस भव में मुक्ति प्राप्त करके भगवान होना है।'

वाह! छोटे-छोटे बालक खेलने के समय में भी कैसे सुन्दर विचार करते थे।

[३]

खेल खत्म होने के बाद वहाँ बैठे-बैठे सभी राजकुमार धर्म-चर्चा कर रहे थे। सबसे बड़े राजकुमार का नाम रविकीर्तिराज था, और छोटे राजकुमार का नाम सूर्यराज था, इसे चर्चा करने का इतना शौका था कि यदि पूरे दिन चर्चा करे तो भी न थके। बड़ा राजकुमार उससे प्रश्न पूछता था और उसका वह जवाब देता था; और अन्य कुमार उसे सुनते थे।

रविकीर्ति—इस गेंदबल्ले के खेल से हमको कितना सुख मिला?

सूर्यराज—इससे हमें सुख मिल नहीं सकता।

रविकीर्ति—इस खेल में हमको आनंद तो आया?

सूर्यराज—यह तो राग का आनंद था। कोई आत्मा का सच्चा आनंद नहीं था।

रविकीर्ति—गेंदबल्ले से सुख कैसे नहीं मिलता?

सूर्यराज—क्योंकि उस वस्तु में सुख है ही नहीं।

रविकीर्ति—तो सुख कहाँ है?

सूर्यराज—सुख तो जीव में है।

रविकीर्ति—जीव और गेंदबल्ला इनमें क्या अंतर है?

सूर्यराज—जीव में ज्ञान है और गेंदबल्ले में ज्ञान नहीं है।

रविकीर्ति—तो क्या इस जगत में दो तरह की वस्तु हैं ?

सूर्यराज—हाँ; एक ज्ञानवाली, और दूसरी वगैर ज्ञानवाली, ऐसी दो तरह की वस्तु हैं। ज्ञानवाली जो वस्तु है, वह जीव कहलाती है और ज्ञान वगैरह की जो वस्तु है, वह 'अजीव' कहलाती है।

रविकीर्ति—जीव वस्तु में ज्ञान के अलावा दूसरा कुछ है ?

सूर्यराज—जीव में ज्ञान के साथ सुख है, अस्तित्व है, दर्शन है; ऐसे तो अनंत गुण उसमें रहते हैं।

रविकीर्ति—यह गेंदबल्ला तो अजीव वस्तु है, उसमें ज्ञान नहीं है, तो दूसरा कुछ उसमें होगा ?

सूर्यराज—हाँ, जीव कि अजीव, प्रत्येक वस्तु में गुणों का समूह होता है। गुणों के समूह को ही वस्तु कहते हैं।

[४]

यह चर्चा सुनकर सभी राजकुमार बहुत खुश हुए और कहने लगे कि—वाह ! आज जीव और अजीव की बहुत ही मजेदार चर्चा हुई। अनंगराज ! अब तुम सारी चर्चा का सार थोड़े में कहो।

अनंगराज कहने लगा:—

जिसमें गुणों का समूह होता है, उसे वस्तु कहा जाता है। वस्तु दो तरह की है—एक जीव और दूसरी अजीव। जीव वस्तु में ज्ञान और सुख होता है। अजीव वस्तु में ज्ञान अथवा सुख नहीं होता। जीव को न पहिचानना और अजीव वस्तु को अपनी समझना यह अज्ञान है; उस अज्ञान के कारण इस गेंद की तरह जीव चार गति में जहाँ तहाँ भटकता है। अतएव प्रत्येक जीव को जीव और अजीव की पहिचान करनी चाहिये।

यह बात पूरी हुई और सभी राजकुमार घर जाने की तैयारी करने लगे। इतने में ही दूर से एक घुड़सवार को इसी तरफ आते देखकर सब खड़े रहे।

उस घुड़सवार ने पास आकर समाचार दिया कि हस्तिनापुर के राजा जयकुमार ने ऋषभदेव प्रभु के पास दीक्षा ले ली है और वे भगवान के गणधर हो गये हैं। जयकुमार भरत चक्रवर्ती का सेनापति था। उसने अपने छह वर्ष के कुमार का राजतिलक करके दीक्षा ले ली। चक्रवर्ती का प्रधान पद छोड़कर अब तीर्थंकर भगवान का प्रधान बन गया।

घुड़सवार से यह समाचार सुनकर सभी कुमारों को एकदम आश्चर्य हुआ; 'अहो! उसका जीवन धन्य है' ऐसा कहकर दूर से ही उसे नमस्कार किया; और सभी कुमार मन-मन में दीक्षा लेने का विचार करने लगे और इसके लिये भगवान के दरबार की तरफ चले। अभी तक ये सभी राजकुमार कुँवार हैं, महान राजवैभव उन्हें मिला है परंतु उसे भोगने की लालसा नहीं है। उनकी तो मुक्ति प्राप्त करने की भावना है और इसीलिये दीक्षा लेने के लिये तैयार हुए हैं और आगे दी हुई भावना भाते-भाते ऋषभदेव प्रभु के धर्म दरबार की तरफ वे जा रहे हैं:—

चालो दादा के दरबार... चालो प्रभु के दरबार...
प्रभु की वाणी खिरती है... आत्मस्वरूप दिखाती है...
स्वरूप समझते आनंद होय... इसमें ठहरते मुक्ति होय...
चालो दादा के दरबार...
चालो प्रभु के दरबार...
मैं हूँ अनन्त-गुण भंडार... मेरी मुक्ति में घरबार...
मुझे रुचे नहीं संसार.. मुझको जाना है उसपार...
चालो दादा के दरबार...
चालो प्रभु के दरबार...

सौ के सौ राजकुमार दीक्षा लेने के लिये ऋषभदादा के दरबार में पहुँचे और प्रभुजी से दीक्षा लेकर मुनि हो गए। शास्त्र में इन सौ राजकुमारों के दीक्षा प्रसंग का ऐसा अद्‌भुत वर्णन आता है कि आत्मार्थी जीव को तो उसे बाँचकर तीव्र वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती है। दीक्षा लेने के बाद वे १०० कुमार—मुनि आत्मध्यान में मग्न हो गये; कितने ही समय तक आत्मध्यान का अभ्यास करते-करते उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ; वे सब मुक्त हुए और भगवान हुए।

बालको, जीव और अजीव वस्तु की सच्ची पहिचानपूर्वक होनेवाले वैराग्य का यह फल है, इसलिये तुम जीव और अजीव वस्तु को ठीक-ठीक पहिचानना और इन वैरागी राजकुमारों के आदर्श को अपने जीवन में उतारना।

अध्यात्म पद

★

(मेरी आत्मा की यही आवाज है... राग)

जो खिलता है वही कुम्हलात है,
हर्ष-शोक भरी क्या बात है।
झूठी गिनती किये दुःख होत है,
चिद्रूप होते सही सुख लेत है।

काल अनंत गँवाया यों ही, पर चिंता पर रंजन से,
पुण्य की महिमा करता था, तब काम भोग के रंजक थे।

जब विश्व सुनिश्चित ज्ञेय है,
तब कर्तृत्व मद कहाँ होय रे।
पर का स्वामी बना तो दुःखी होत है,
ज्ञाता पन की नीति खो देत है।

शत्रु मित्र है स्वयं शिष्य गुरु, स्वयं भक्त-भगवान स्वयं,
निज में निज का गुरु-शिष्य बन, निज हित के दातार स्वयं।

पर के पीछे पड़ने में दुःख भार है,
अपनी शक्ति सम्हाले बेड़ा पार है;
वीतरागी कथन का यही सार है,
अब अवसर आया क्या वार है।

जो आत्मा को शुद्ध जाने, वह शुद्ध आत्मा ही प्राप्त करे

[प्रवचनसार गाथा १९४ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

शुद्ध आत्मा को जाने उसको शुद्धता हो

इस यथोक्त विधि द्वारा जो शुद्ध आत्मा को ध्रुव जानते हैं, उसको उसमें ही प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है। आत्मा में अच्छा कैसे हो और खराब-अयोग्य कैसे दूर हो उसकी यह बात है। अच्छा करना, सुख, धर्म, कल्याण यह सब एक ही है। जीव अज्ञानभाव से क्षणिक ऐसे विकार को तथा संयोगों को स्वयं का स्वरूप मानता था, वह अधर्म था। अब परद्रव्य का अवलंबन अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्य का अवलंबन शुद्धता का कारण है, ऐसी पूर्व में कही हुई विधि द्वारा शुद्धात्मा को जाना, वह धर्म है। मूल सूत्र में 'जो एवं जाणित्ता' ऐसा कहा है, उसमें से श्री अमृतचंद्र आचार्यदेव ने टीका में यह रहस्य खोला है।

मेरे में पर वस्तु का अभाव है और राग-द्वेष भी मेरे कल्याण का कारण नहीं, यह सब अनित्य पदार्थ हैं, वह मुझे शरणरूप नहीं। मेरा उपयोग स्वरूप आत्मा नित्य है, वही शरणरूप है—इसप्रकार जो स्वयं की शुद्ध आत्मा को जानता है, उसको उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है। पहिले मलिन भावों को स्वयं का स्वरूप मानता, तब शुद्धता प्रगट नहीं होती थी; अब वह मान्यता बदलकर शुद्ध आत्मा को जाना, यानि शुद्धता प्रगट हुयी।

यह बात किसको समझाते हैं ?

पहिले अनादि से आत्मा को अशुद्ध मानता था, वह मिथ्या मान्यता सर्वथा असत् (अर्थात् सर्वथा अभावरूप) नहीं, किंतु अज्ञानी की अवस्था में वह मिथ्या मान्यता होती है, वह एक समय जितनी सत् (भावरूप) है, जो विपरीत मान्यता आत्मा में सर्वथा होती ही न हो तो शुद्धात्मा को समझकर वह दूर करने का भी रहता नहीं, अर्थात् आत्मा को समझने का उपदेश देना भी रहता नहीं। अनादि से आत्मा को क्षणिक विकार जितना माना है, वह मिथ्या मान्यता छुड़ाने के लिये आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध उपयोग स्वरूप ध्रुव है, उसकी श्रद्धा करो।

राग के समय शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान कैसे हो सके ?

श्रद्धा ज्ञान, चारित्र का भिन्न-भिन्न कार्य

प्रश्न—आत्मा में राग-द्वेष होते हुये भी वह राग-द्वेष में नहीं—ऐसा उसी क्षण में ही कैसे

माना जाये ? राग-द्वेष के समय ही राग-द्वेष रहित ज्ञानमय भाव की श्रद्धा किस प्रकार हो सके ?

उत्तर—राग-द्वेष होते दिखते हैं, वह तो पर्यायदृष्टि है, उस ही समय जो पर्यायदृष्टि गौण करके स्वभाव की दृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव रागरहित ही है, इसकी श्रद्धा का अनुभव होता है। राग होते हुए, शुद्धात्मा उस राग से रहित है—ऐसा ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा जाना जाता है। आत्मा में एक ही गुण नहीं किंतु ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र आदि अनंत गुण हैं; राग-द्वेष हो, वह चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना, वह श्रद्धागुण का निर्मल परिणमन है तथा शुद्धात्मा को जानना, वह ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है। इसप्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है। चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी, श्रद्धा-ज्ञान उसमें नहीं झुके; त्रिकाली शुद्ध स्वभाव में झुके, श्रद्धा की पर्याय से विकाररहित सारे शुद्ध आत्मा में झुककर उसको माना है और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार को अस्वीकृत करके स्वभाव में झुकी है यानि उसने भी विकार रहित शुद्ध आत्मा को जाना है। इसप्रकार चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान स्वयं की ओर झुकते शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान होता है। राग के समय यदि रागरहित शुद्ध आत्मा का भान न हो सकता हो तो कोई जीव को चौथा-पाँचवाँ-छठवाँ आदि गुणस्थान अथवा साधकदशा ही प्रगट नहीं हो सकती और साधक भाव बिना मोक्ष का भी अभाव ठहरे।

राग-द्वेष, वह चारित्रगुण की अशुद्ध अवस्था है। यदि आत्मा में चारित्र सिवाय दूसरे ज्ञानादि अनंत गुण न हों तो धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि जो चारित्र स्वयं विकर में अटका हो, वह स्वयं विकाररहित स्वभाव का निर्णय कैसे कर सके ? और वह निर्णय बिना धर्म कहाँ से हो ? इसलिये चारित्र सिवाय दूसरे ज्ञान, श्रद्धा आदि गुण हैं; इससे चारित्र की दशा में विकार होने पर उस ही समय ज्ञानगुण के कार्य द्वारा शुद्धात्मा का ज्ञान होता है तथा श्रद्धागुण के कार्य द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा होती है। और यह शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान के जोर से स्वभावसन्मुख परिणमते चारित्र के विकार का भी क्रमशः नाश होता जाता है। सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होते उसके साथ चारित्र भी आंशिक शुद्ध तो होता है।

नीचली दशा में साधक को सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी चारित्र सर्वथा अशुद्ध ही रहे—ऐसा नहीं बनता। चारित्र का परिणमन थोड़ा विकारी होने पर भी, उस समय श्रद्धा-ज्ञानगुण के स्वाश्रित परिणमन द्वारा विकाररहित आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान होता है। इसलिये, यदि कोई जीव आत्मा में अनंत गुण न माने और एक ही गुण माने तो उसको साधकदशा हो सकती ही नहीं

उसको तो विकार समय विकार जितना ही आत्मा मानना है, लेकिन विकार समय विकाररहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान उसको हो नहीं सकते, क्योंकि उसने वह गुणों को ही स्वीकारा नहीं। अवस्था में राग-द्वेषरूप जो क्षणिक मलिनता है, वह ज्ञान सिवाय दूसरे गुण की है, ज्ञान की मलिनता नहीं। उससे उस मलिनता से पृथक् रहकर ज्ञान ने निज अखंड स्वभाव की ओर झुककर आत्मा के निर्मल गुणों को जाना, यानी उसके आश्रय साधकदशा शुरु हो गयी। वह जीव स्वयं को क्षणिक राग-द्वेष जितना ही मान नहीं लेता।

आत्मा की वर्तमान पर्याय में रागादि मलिनता है, वह चारित्रगुण की विपरीत दशा है। वहाँ उसको ही अज्ञानी समूचा आत्मा मानता था। उससे तो मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान थे। अब वह मिथ्या मान्यता बदल कर श्रद्धा-ज्ञान स्वसन्मुख होते ऐसा माना कि त्रिकाल ध्रुव पूर्ण चैतन्य, वही मैं हूँ, मेरे त्रिकाली स्वभाव में मलिनता नहीं; अवस्था में जो क्षणिक अल्प मलिनता है, उतना समूचा आत्मा नहीं। स्वभाव की ओर झुके हुये स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ने वह मलिनता को ज्ञेयरूप में जानी सही कि यह चारित्र का दोष है, लेकिन वह मेरा मूलस्वभाव नहीं। वह दोष विद्यमान होने पर भी दूसरे गुण—ज्ञान, श्रद्धानगुण द्वारा ध्रुव शुद्ध नित्य आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होता है, अर्थात् विकार के समय भी शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान में धर्मी जीव को शंका नहीं होती। यदि एक-एक आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनेक गुणों को (यानी अनेकांत स्वभाव को) न माना जाये तो साधकपना ही साबित नहीं होता, और साधकपना बिना बाधकपना भी सिद्ध नहीं होता, अर्थात् संसार-मोक्ष का ही अभाव ठहरे परंतु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

यदि सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होते उसके साथ ही पूरा चारित्र प्रकाशित हो जाता हो और परिणमन का थोड़ा भी दोष न रहता हो तो साधकपने के भेद ही न हों लेकिन सम्यक्-श्रद्धा के साथ ही सभी जीवों को वीतरागता हो जाती, यानी कथंचित् गुण भेदरूप जो वस्तु स्वरूप है, वह सिद्ध नहीं होता, इसलिये वह भी विरुद्ध है।

आत्मवस्तु में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि अनेक गुण हैं और गुण अपेक्षा से वह प्रत्येक का कार्य भिन्न-भिन्न है—ऐसे यथार्थ अनेकांत को समझे तो ही वस्तुस्वरूप की सिद्धि हो।

कल्याण कैसे हो ?

जीव को अवस्था में अकल्याण है, वह दूर कर कल्याण करना है। अवस्था में अकल्याण है, उसे दूरकर कल्याण कहाँ से आयेगा ? प्रगट अवस्था में अकल्याण होने पर भी, जिसमें से कल्याण प्रगट होता है, ऐसी पूर्ण ज्ञानानंदमय ध्रुव वस्तु की श्रद्धा करने से उसके आधार से कल्याण

प्रगट होता जाता है। ध्रुव वस्तु की श्रद्धा हुई, वहाँ आंशिक कल्याण प्रगट हुआ है और अभी आंशिक अकल्याण है। यदि सम्पूर्ण कल्याण हो जाये तो अकल्याण बाकी रहे नहीं। राग-द्वेष, वह अकल्याण है और वीतरागभाव, वह कल्याण है। अवस्था में आंशिक अकल्याण (राग-द्वेष) होने पर भी शुद्ध आत्मा का विवेक होता है और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप कल्याण प्रगट होता है। उससे श्री आचार्यदेव ने पहिले शुद्ध आत्मा को जानने की बात रखी है। शुद्धात्मा को जानने के साथ ही पूर्ण ही वर्तन (वीतरागता) हो नहीं जाती लेकिन उसमें क्रम पड़ते हैं। यदि सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होने के साथ ही चारित्र पूर्ण हो जाता हो तो साधकदशा रहे नहीं।

प्रत्येक जीव की स्वतंतत्रता और देव-गुरु-शास्त्र वगैरह की सिद्धि

शुद्ध आत्मा को जो ध्रुव जानता है उसको... शुद्धात्मत्व होता है, ऐसा कहा; अर्थात् यदि अन्य सब जीव शुद्धात्मा को जाने तो ही स्वयं को शुद्धात्मा जाना जाये—ऐसा नहीं, लेकिन सब जीवों से स्वयं स्वतंत्र है, सब आत्मा भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, उसमें से जो शुद्धात्मा को जाने, उसको ही शुद्धात्म दशा प्रगटती है, और जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, उसको शुद्धात्मदशा होती नहीं। इसमें परिणमन भी निश्चित हो गया, क्योंकि अनादि से शुद्ध आत्मा को जाना नहीं था, वह अज्ञानदशा बदलकर अब शुद्धात्मा को जाना। यदि अवस्था पलटती न हो तो ऐसा बन नहीं सकता। इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीनता से जो पूर्ण शुद्ध हो गया, वह 'देव' है। शुद्धात्मा को जाना होने पर भी जिसको अभी पूर्ण शुद्धदशा प्रगटी नहीं लेकिन साधकदशा है, वह 'गुरु' है, और ऐसे देव-गुरु की अनेकांतमय वाणी, वह शास्त्र है। शुद्ध आत्मा को जाने, उस समय ही पूर्ण शुद्ध सर्वज्ञ हो नहीं जाता लेकिन अभी स्वभाव की ओर विशेषरूप से झुकने का और अशुद्धता टालने का साधकपना रहा है, अर्थात् ज्ञान के भेद तथा गुणस्थान के भेद पड़ते हैं—इस तरह अनेक प्रकार सिद्ध हो जाता है।

सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का कार्य

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र वगैरह अनेक गुण त्रिकाल हैं; उसको जो न मानो तो यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। चारित्र की दशा में विकार होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान ने उसका लक्ष्य छोड़कर जब शुद्ध आत्मस्वभाव का स्वीकार किया, तब से अपूर्व धर्म कला की शुरुआत हुयी है। वर्तन की क्षणिक मलिनता को सम्यक् श्रद्धा स्वीकार नहीं करती। लेकिन ध्रुव शुद्ध द्रव्य को ही वह स्वीकारती है, और वह ध्रुव के ही आधार से वीतरागता की पूर्णता होकर मैं सर्वज्ञ हो जाऊँगा—ऐसा ज्ञान जानता है।

सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म, और सम्यक्-चारित्र रूप धर्म : पहिले कितना अधर्म टले ?

आत्मा का जो शुद्ध ध्रुव स्वभाव है, वह तो नित्य है, वह कायमी पदार्थ को कुछ नया बनाता नहीं; लेकिन वर्तमान क्षणिक अवस्था में अधर्म है, वह दूर कर धर्मदशा नहीं प्रगट करना है। सब अधर्म एक साथ दूर नहीं हो जाता। लेकिन वह दूर करने में क्रम पड़ता है। जो जीव धर्मी होय धर्म का प्रारम्भ करे, उसको सबसे पहिले कितना अधर्म दूर हो ? पहिले शुद्ध आत्मा को जानते मिथ्या श्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म तो सब टल जाता है, और चारित्र के अधर्म का एक अंश टलता है लेकिन चारित्र का सब अधर्म दूर नहीं हो जाता। पहिले सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म एक साथ प्रगट होता है और बाद में सम्यक्चारित्र होता है, वह चारित्र धर्म क्रमशः प्रगट होता है, 'मैं शुद्ध, ध्रुव, उपयोग स्वरूप हूँ' ऐसा श्रद्धा-ज्ञान ने माना तथा जाना, वह धर्म है, और जो राग-द्वेष होता है, वह अधर्म है; इसप्रकार साधक को आंशिक धर्म और आंशिक अधर्म दोनों साथ हैं। पहिले शुद्ध आत्मा को जानता नहीं था और पुण्य-पाप को ही स्वयं का स्वयं मानता तब तो उस जीव को श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों झूठे थे, यानी अकेला अधर्म ही था। वह अधर्मीपन में तो जीव विकार को और पर को ही ज्ञान में ज्ञेय करता और उसकी ही श्रद्धा करता था, उसके बदले अब ज्ञान को अपनी ओर झुकाकर आत्मा को ज्ञान का स्वज्ञेय किया और उसकी ही श्रद्धा करी, वहाँ ज्ञान और श्रद्धा शुद्ध हुये और चारित्र का भी एक अंश शुद्ध हुआ। तो भी अभी वह धर्मी को चारित्र में आंशिक विकार भी है। परंतु वह विकार होने पर भी उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म का नाश नहीं होता। इसप्रकार पहिले तो मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म टलता है और बाद में ही राग-द्वेष टलते हैं।

अधर्मदशा के समय पुण्य-पाप को जानने में एकत्वबुद्धि से जो ज्ञान रुकता था, उसका कार्य धर्मदशा होते बदला और अब वह ध्रुव चैतन्यस्वभाव को जानने में उसके आश्रय में ठहरा तथा पहिले जो श्रद्धा पुण्य-पाप को ही आत्मा मानती थी, उसको अब ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा की।—इसप्रकार ज्ञान और श्रद्धा में धर्म की क्रिया हुई अब मात्र चारित्र का अल्प दोष रहा, उसको भी शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता के द्वारा दूरकर परमात्मा हो जायेगा। परंतु जिसको श्रद्धा-ज्ञान ही सत्य नहीं, उसको तो कभी विकार दूर होता ही नहीं। पहिले सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान हुये बाद ही चारित्र दोष दूर हो और परमात्मा दशा हो।

पूज्य कानजी स्वामी के उपदेश-रत्नाकर

चुने हुए मोती

'णमो जिणाणं जिदभवाणं' जिनभगवंतों को नमस्कार।

* * *

चैतन्य सन्मुखता (अनुभव) से धर्मी को जहाँ परम अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हुआ, वहाँ अपने अनुभव से उसे खबर पड़ी कि मेरे इस आनंद के अनुभव में राग का अवलंबन नहीं था, कि किसी अन्य का आश्रय नहीं था, मेरी आत्मा का ही आश्रय था।

* * *

ज्ञानी के पास सुनने से और विचार करने से जो पहिले जाना था, वह अब अपने ही अनुभव से जाना। अर्थात् श्रवण किये हुए भावों का परिणमन हुआ।

* * *

दुनियों को भूलकर अपनी अतीन्द्रिय चैतन्य गुफा में उतर, वहाँ तो एकला सुख ही भरा है। तेरा स्वरूप सुख का ही धाम है।

* * *

राग में आकुलता है, उसमें आनंद नहीं है, तो भी जो राग में आनंद मानता है, वह अतत् में तत्बुद्धि करता है, वह मिथ्याबुद्धि है और वह मिथ्याबुद्धि पराश्रित परिणमन से महा खेद उत्पन्न करती है।

* * *

ज्ञान के साथ तो आनंद उत्पन्न होता है। ज्ञान के साथ राग की उत्पत्ति नहीं होती। केवलज्ञान तो आनंद का ही धाम है, उसमें अंशमात्र दुःख की आकुलता नहीं होती।

* * *

जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव हुआ, वहाँ ज्ञानी हुआ, आत्मा परभाव के कार्य को नहीं करता। ज्ञानी का कार्य और रागादि-परभाव दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

* * *

मेरा आत्मा ही ज्ञान और आनंदस्वरूप है—ऐसा निर्णय करने की जिसे धुन लगी, उसके प्रयत्नों का झुकाव स्वसन्मुख ढलता है; राग की ओर उसका झुकाव नहीं रहता, राग से दूर होकर उसकी परिणति अंतर में ढलती है।

* * *

ज्ञान की अचिंत्य महिमा का चिंतन संसार के सब क्लेशों को भुला देता है। चित्त की अत्यंत निश्चलता से ही ज्ञानस्वभाव की सिद्धि होती है। चित्त की निश्चलता बिना स्वानुभव नहीं होता।

* * *

आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान हैं—वे ही उपादेय हैं—ऐसा निर्णय करने पर सम्यक्त्व होता है। केवली भगवान के ज्ञान और आनंद के निर्णय करनेवाले को अपने में स्वसन्मुखता से उसका नमूना आ जाता है।

* * *

पूर्ण साध्य को पहिचान कर उस साध्य को स्वीकारपूर्वक साधकभाव बना रहता है। पूर्ण साध्य को स्वीकार करनेवाले ज्ञान ने रागादि बाधकभावों को अपने से अलग जाना... वह ज्ञान, राग आदि परभावों से पृथक् होकर स्वभाव की ओर परिणमता साधक हुआ, आनंदरूप हुआ।

* * *

सम्यग्दृष्टि का ध्येय निजात्मा है, क्योंकि उसमें आनंद है। स्वध्येय ने जो अतीन्द्रिय आनंद प्रकट किया, वही वास्तविक आनंद है। बाह्य विषयों में कहीं भी वह आनंद है ही नहीं।

* * *

आनंद आत्मा में भरा है; अतएव जिस परिणाम में उस स्वभाव का आश्रय होता है, उसी में आनंद होता है। निमित्तों में कि विभाव में आनंद नहीं है; इसलिये जिस परिणाम में निमित्त का आश्रय हो, उसमें आनंद नहीं होता।

* * *

आत्मा का प्रिय-प्यारा-इष्ट कोई है तो वह केवलज्ञान है। ऐसा केवलज्ञान स्वभाव जिसे प्रिय कि इष्ट भासित हो, उसे दूसरा कुछ भी इष्ट न लगे। 'जगत इष्ट जगत इष्ट नहिं आत्मा से।'

* * *

भाई, तेरे अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व के सिवाय बाह्य इन्द्रिय विषयों के सुख में वास्तविक सुख नहीं है, परंतु सुखाभास है। जैसे मृगमरीचिका (मृगजल) में वास्तव में पानी नहीं होता परंतु पानी का मिथ्या आभास होता है, उसीप्रकार विषयों में सुख नहीं है, सुख का मिथ्या आभास है।

* * *

जहाँ स्वविषय में डुबकी मारी, वहाँ परिणामों की मग्नता के अनुसार निर्विकल्प आनंद उछलता है। जहाँ बाह्य विषयों की ओर झुकाव है, वहाँ दुःख ही है। जो दुःख न हो तो बाह्य विषयों की ओर क्यों दौड़े।

* * *

अज्ञानी कहता है कि पर विषयों की अनुकूलता में सुख है। ज्ञानी कहता है कि चैतन्य से बाहर पर विषयों की ओर झुकाव हो तो वह दु:ख है। सुख के सच्चे स्वरूप की अज्ञानी को खबर नहीं है।

* * *

मुनिवरों को संयोग बिना निजानंद के अनुभव में जो सुख है, चक्रवर्ती के कि इंद्र के वैभव में उस सुख का अंश भी नहीं है। इन्द्रिय-विषयों में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद की छाया भी नहीं है।

* * *

दु:ख का कारण अज्ञान है, सम्यग्ज्ञान सुख का कारण है। जहाँ अज्ञान नष्ट हुआ और पूरा ज्ञान खिल गया, वहाँ पूर्ण सुख है।

* * *

स्वभाव-सन्मुख होने पर जहाँ अतीन्द्रियज्ञान खिला / प्रकाशित हुआ, वहाँ इष्टरूप परम आनंद की प्राप्ति हुई, और अनिष्ट दूर हुआ। अनिष्टरूप तो परभाव था; वह जहाँ दूर हुआ, वहाँ जगत् का कोई परद्रव्य जीव का अनिष्ट करने में समर्थ नहीं होता।

* * *

भाई, अतीन्द्रिय स्वभावसुख की प्रतीति अभी भी हो सकती है.. और पूर्णता के लक्ष से आंशिक (थोड़ा) अनुभव भी होता है। मुमुक्षु के तो अतीन्द्रिय सुख की बात सुनते ही चैतन्य उल्लसित हो जाता है कि वाह! ऐसा मेरा सुख!

* * *

अरे जीव! तू प्रमोद कर, प्रसन्न हो.. उल्लास कर.. कि आत्मा स्वयमेव सुखरूप है.. तेरे सुख के लिये जगत् के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है.. स्वसन्मुख होने पर आत्मा स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनंद में लहर करता है.. और मोक्ष सुख का सुधापान करता है।

* * *

अनुकूल संयोग मिले तो सुख मिले?...ना। प्रतिकूल संयोग टले तो दु:ख टले?...ना। अंतर के अतीन्द्रिय स्वभाव में जा, तो सुख मिले। बाह्य विषयों का अवलंबन छोड़ तो दु:ख टले।

* * *

जिसप्रकार मृगमरीचिका में पानी समझकर हिरन उस तरफ दौड़ते हैं, परंतु यह उसका भ्रम ही है; वहाँ सच्चा पानी नहीं है, और उससे उसकी प्यास बुझती नहीं है, उल्टे आकुलता से दु:खी होता है, उसीप्रकार बाह्य विषयों में सुख मानकर अज्ञानी, उपयोग को उस ओर दौड़ाता है, परंतु

यह उसका भ्रम ही है। वहाँ सच्चा सुख नहीं है। विषयों के प्रति आकुलता के वेग से वह दु:खी ही होता है।

* * *

अपने अंतर में ही जिसे स्वाभाविक सुख मिला, वह सुख के लिये उपयोग को बाहर कैसे भ्रमावे। विषयों से अत्यंत निरपेक्ष ऐसे स्वत: उत्पन्न आत्मिक सुख का छेदन हुआ, वहाँ विषयों में सुख है, इसकी कल्पना स्वप्न में भी नहीं होती।

* * *

अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद चखता चैतन्य भगवान जहाँ जागा, वहाँ इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय जड़-मृतक जैसे लगने लगे; जिस प्रकार मुर्दे में-सुख नहीं; उसीप्रकार मरी हुई—अचेतन इन्द्रियों में सुख नहीं।

* * *

अंतर्दृष्टि करने पर अतीन्द्रिय आनंद अनुभव में आता है। वह आनंद अपने स्वभाव में से ही आता है, कहीं अन्यत्र से वह आनंद नहीं आता। पर विषय आत्मा के आनंद में अकिंचित्कर हैं।

* * *

प्रश्न:—क्या अज्ञानी को बाह्य संयोग की अनुकूलता में सुख लगता है ?

उत्तर:—वह तो अज्ञानी की कल्पना मात्र है। संयोग में कहीं सुख नहीं है। अज्ञानी अपनी कल्पना से ही अपने को सुखी मानता है।

* * *

इसीप्रकार सुख की तरह दु:ख भी संयोग में नहीं है। शरीर छिद जाये, रोग हो, निर्धनता आदि हो—यह कोई दु:ख नहीं है, दु:ख जीव की अपनी आकुलता में है। अपने अरति भाव से दु:खी जीव कल्पना से संयोग में दु:ख मानता है।

* * *

अंतर्मुख को लक्ष कर किया हुआ कार्य बहिर्मुख कार्य से बिल्कुल भिन्न है, यह बात बिना मन में बैठे अंतर्मुख झुकाव नहीं होता।

* * *

इष्ट की निधान आत्मा है। आनंद का भंडार आत्मा में है। जहाँ अपनी ज्ञानशक्ति से निर्विघ्नरूप से आत्मा खिला, वहाँ अनंद का भंडार खुला और संपूर्ण इष्ट की प्राप्ति हुई... सभी विघ्न टल गए।

* * *

अहो, यह बात समझकर अपने को अपने अन्तर में उतरने जैसा है। स्वयं अपना हित करने के लिये यह बात है।

* * *

सिद्ध भगवंत परम सुखी हैं। उन्हें इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय विषयों का अभाव है.... तो नीचे के सभी जीवों को भी इन्द्रिय कि इन्द्रिय विषयों के बिना ही सुख है, उन्हें बाह्य विषयों के बिना ही सुख है, उन्हें बाह्य विषय सुख के साधन नहीं हैं। ऐसे स्वभाव सुख का निर्णय करना, वह सम्यक्त्व है।

अमृत का अनुभव

(प्रवचनसर गाथा ११५ के प्रवचन में से)

भाई, तू तेरे में... पर पर में, सभी व्यवस्थितरूप से अपने-अपने स्वरूप में सत्पन से रहते हैं, कोई भी एक-दूसरे में दखलगिरी नहीं कर सकते।

स्व-स्व में... और पर-पर में... ऐसी भिन्नता जाननेवाला जीव पर में शांति का अनुभव नहीं खोजता, परंतु स्व सन्मुख होकर अपने में ही शांति अनुभव करता है। जो जीव, पर में शांति खोजता है, उसे शांति का अनुभव हो नहीं सकता क्योंकि इस जीव की शांति पर में नहीं है।

जीव स्वयं पररूप से असत् है—तथापि मानो वहाँ पर भी अपनी सत्ता हो—ऐसा मानकर जो उसका कर्ता बनने जाता है तो वह अपना 'सत्' भूलकर 'असत्' ग्रहण करता है, अर्थात् मिथ्या मान्यता का सेवन करता है।

'अनेकांत' उसे समझाता है कि अरे भाई! तेरा सत् तेरे में और पर का सत् पर में; तेरी सत्ता में पर नहीं है और पर की सत्ता में तू नहीं है। तो पर तेरे में क्या करे? इसप्रकार स्व-पर की भिन्न-भिन्न सत्ता जानकर तू अपने सत् स्वरूप में रह। सत् की श्रद्धा, सत् का ज्ञान और सत् में तल्लीनता (रमना), (ऐसा) करने से तेरे सत् में से केवलज्ञान ज्योति चमक उठेगी। आनंद का प्रवाह तेरे सत् में से बहेगा। तेरा सब तुझमें से आयेगा। पर में से तुझे कुछ लेना पड़े, ऐसा नहीं है।

सारे विश्व को तू जाने—ऐसी तेरी सामर्थ्य है। परंतु उस सामर्थ्य के द्वारा पर में तू कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि पर में तेरी सामर्थ्य नहीं है; तेरी अनंत अचिंत्य और असीम सामर्थ्य होने पर भी वह सामर्थ्य तुझमें ही रहती है—समाती है।

जड़ के एक-एक रजकण में उसके स्वरूप की अनंत सामर्थ्य है। जगत में किसी की शक्ति नहीं है जो कि उसके स्वरूप को दूसरे प्रकार से बदल दे। जड़ का स्वरूप जड़ से परिपूर्ण है। जीव का स्वरूप जीव से परिपूर्ण है। भाई, जहाँ तेरा स्वरूप तुझसे ही परिपूर्ण है तो तुझे दूसरे किसकी अपेक्षा करनी है? किसके पास से तुझे सहायता लेनी है? छोड़ दे इस पराश्रय की बुद्धि को! और अंतर्मुख होकर अपने पूर्ण स्वरूप का आश्रय कर। उसके आश्रय से तुझे अपने स्वरूप के आनंद का अचिंत्य अमृत अनुभव में आयेगा।

जैन सन्देश

(भगवान का सन्देश, भगवान का बुलावा)

जैसे किसी स्त्री का पति परदेश हो और वहाँ से उसका संदेशा आवे तो कैसी खुशी से वह बांचती है, उसीप्रकार धर्मपिता त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव सीमंधर परमात्मा जो विदेहदेश में विराजते हैं, उनका यह संदेशा है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ जाकर भगवान का संदेश लाए हैं, भगवान की चिट्ठी लाये हैं, उसमें भगवान का ऐसा संदेशा है कि—हे जीव! आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है, जैसी हमारी आत्मा है, वैसी ही तेरी आत्मा है। शुद्ध द्रव्य गुणपर्यायरूप से तू अपनी आत्मा को पहिचान; तो तुझे सम्यग्दर्शन हो और तेरे मोह का क्षय हो जाय! हमने इसी रीति से मोह का क्षय किया है और इसी रीति से मोह का क्षय करके तू भी हमारे रास्ते से हमारे देश में चला आ! ऐसा भगवान का संदेशा आया है (ऐसा भगवान का बुलाया आया है।)

देखो, यह जैन संदेश! राग से धर्म होता है, यह भगवान का संदेश नहीं है अर्थात् जैन-संदेश नहीं है। भूतार्थस्वरूप ऐसा जो शुद्ध आत्मा है, उसी के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र होता है। अतएव उसी का आश्रय करो, ऐसा भगवान का संदेश है। वही जैन संदेश है।

सुवर्णपुरी समाचार

सोनगढ़ तारीख ४-२-६६ परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे श्री पंडित दौलतरामजी कृत छहढाला पर सुंदर विवेचन हो रहा है। दोपहर को परमात्मप्रकाश शास्त्र चल रहा है।

सोनगढ़ में श्री दिगम्बर जैन मंदिर रौप्य महोत्सव

फाल्गुन सुदी २ जिनमंदिर की २५वीं वर्षगाँठ का महोत्सव मनाया जायेगा, अजमेर से भजन मंडली के सभ्य, सब आयेंगे। अनेक विध जिनेन्द्र भक्ति की तैयारी चल रही है। आठ दिन पूर्व से उल्लासपूर्वक उत्सव शुरु होगा।

नया सरस्वती भवन

श्री रामजीभाई सम्मान कमेटी द्वारा सरस्वती भवन हॉल के लिये शिलान्यास फागण सुदी २ सोमवार तारीख ७-२-६६ श्री नवनीतभाई सी० जवेरी प्रमुखश्री के शुभहस्त से होगा।

गुजरात में नया जिन मंदिर

हिम्मतनगर—तारीख ५-२-६६ महा सुदी १५ महावीर नगर को० सोसायटी में दिगम्बर जैन मंदिर का शिलान्यास श्री हीरालालजी काला कुचामन निवासी (फर्म गौरीलाल जैन कं०, भावनगर) के वरद हस्त से होगा। सोनगढ़ से श्री खेमचंदभाई सेठ तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट और श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल सोनगढ़ के प्रमुख, तीर्थभक्त सेठ श्री नवनीतलाल चुन्नीलाल बम्बई निवासी विशेष मेहमान के रूप में पधारेंगे। श्री खेमचंदभाई द्वारा आध्यात्मिक प्रवचनों के लाभ मिलेंगे।

—श्री दिगम्बर जैन समाज महावीर नगर को० सोसायटी

खास निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा २१ साल से सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र तत्त्वज्ञान का प्रचार हो रहा है। २१ वाँ वर्ष का चंदा चैत्र मास में समाप्त हो जाता है। खुशी समाचार यह है कि हमारी संस्था के भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई स्मारक की ओर से इस वर्ष के लिये आत्मधर्म का चंदा घटाकर 'दो रुपया' रखा है। मुमुक्षु मंडलों को प्रार्थना है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाकर और चालू ग्राहकों से मिलकर आत्मधर्म का चंदा एकत्र करके मनिआर्डर या चैक से भेजने का कष्ट कीजियेगा, ताकि आगामी ग्राहक संख्या का अंदाजा हम लगा सकें। ग्राहक के नाम पूर्ण पते के साथ रेलवे स्टेशन, पोस्ट का जिले का साफ नाम, नये ग्राहक या पुराने ग्राहक ऐसा अवश्य लिखें, प्रथम से ही जिन्होंने चंदा जमा कराया है, भेज दिया है वह भी हमको पत्र द्वारा सूचित करें, आपका ग्राहक नं० भी अवश्य लिखें। वैशाख मास से आत्मधर्म बड़ी साहज में, चित्र, कथा, विशेष लेख, बाल विभाग सहित प्रकाशित होगा। वी०पी० करने में बड़ी कठिनाई रहती है। आशा है कि शीघ्र उपरोक्त सहयोग दें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट (आत्मधर्म विभाग)

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह यानी पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरसः ठीक रूप से सांगोपांग अनुवाद श्री हिम्मतलाल जे. शाह बी.एससी. द्वारा प्रथम बार ही हुआ है, जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र कृत संस्कृत टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, यह ग्रंथ दूसरी बार बड़े टाइप में सर्व प्रकार सुंदर संशोधित व संस्कृत टीका सहित छपा है, टीका के कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज, सुंदर छपाई और रेगजीन कपड़े की सुंदर जिल्द सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ३-५० है। पोस्टेजादि अलग पृष्ठ संख्या ३१५ (कमीशन किसी को नहीं मिलेगा।)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य सुगम और उत्तम साहित्य है।]

पता — श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

(श्री प्रवचनसार शास्त्र-दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञानदर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़े वाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २-१०) पैसे, (किसी को कमीशन नहीं है)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इंदौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	४-०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
आत्मप्रसिद्धि	४-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
मुक्ति का मार्ग	०-६०	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग २	नहीं है	अध्यात्मपाठ	३-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	भक्ति पाठ संग्रह	१-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८)	
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	ग्रन्थ का मात्र	६-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।